आनन्दानुभव



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

आनन्दानुभव

प्रवचनकर्त्ता :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री :

साध्वी सुश्री कंचन

एवं

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरसार्ग
मालाबार हिल
मुबई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो. : 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 1100
गुरुपूर्णिमा, 16 जुलाई 2000
द्वितीय संस्करण : 1100
15 जून 2005

तृतीय संस्करण : 1100
रामनवमी 2016

●

●

मूल्य : 35/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रथम संस्करण

दो शब्द

श्रीगुरुपूर्णिमा प्रतिवर्ष भक्तोंके लिए एक नूतन सन्देश लेकर आती है।

अध्यात्म जगत्के सूर्य सन्तशिरोमणि परमपूज्य महाराजश्रीके वेदान्त प्रधान विचारोंका संकलन-जिसमें कतिपय लेख, कतिपय प्रश्नोत्तर एवं छोटे-छोटे वाक्योंका चयन है इस 'आनन्दानुभव' नामक नन्हीं-सी पुस्तिकामे किया गया है। हमें विश्वास है कि अध्यात्म-मार्गके पथिक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

संकलनकर्त्री साध्वी सुश्री कञ्चन एवं श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालानको हमारे साधुवाद हैं।

गुरुपूर्णिमा — *प्रकाशक*

18 जुलाई 2000 — **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट**

द्वितीय संस्करण

प्रकाशकीय

उक्त संस्करण अल्प समयमें समाप्त हो जाने पर पुनर्प्रकाशनकी माँग निरन्तर बनी रहे, महन्तश्री स्वामी ओंकारानन्द सरस्वतीजीकी सद्प्रेरणासे मुम्बई निवासी श्रीलक्ष्मीपति मुँदड़ा के आर्थिक सहयोगसे यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

ट्रस्टी

15 जून 2005 — **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट**

अनुक्रमणिका

◆

मोक्षका साक्षात् साधन : तत्त्वज्ञान

जिस कालमें, जिस देशमें और जिस रूपमें 'अहं-अहं'का स्फुरण हो रहा है यदि उसी काल, उसी देश और उसी रूपमें वही 'अहं' तत्त्वत: परमात्मा न हो तो परमात्मा नामकी किसी वस्तुकी सिद्धि, स्थिति या उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह नश्वर, अपूर्ण तथा अप्राप्त होगी। ऐसी वस्तुको तो कोई भी परमात्माके नामसे नहीं कहता। 'अहं-अहं'के स्फुरित आकारका अधिष्ठान जड़ द्रव्य होना कथमपि सम्भव नहीं है। वह स्वयं प्रकाश चित्तत्त्व ही है, जिसे देश, काल वस्तुके भेद-छेद स्पर्श नहीं कर सकते। इस नित्यप्राप्त तत्त्वकी अप्राप्ति केवल अज्ञानसे है और अज्ञानसे ही नित्य निवृत्त अनर्थकी प्राप्ति-सी हो रही है। इस अज्ञानकी निवृत्तिके सिवाय परम आत्मा, परम ज्ञान, परम आनन्दकी प्राप्तिका दूसरा कोई साक्षात् साधन होना सम्भव नहीं है।

जो वस्तुत: इस देशमें, इस कालमें, इस वस्तुमें अप्राप्त है, वह तो है ही नहीं। इसलिए भक्तिके द्वारा साध्य साकार-निराकार भगवद्दर्शन, योगके द्वारा साध्य सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात समाधि, धर्मके द्वारा साध्य सुख-विशेष और अन्य किसी भी साधनके द्वारा साध्य कोई भी विशेष फल तत्त्व नहीं है, शुद्ध ज्ञान नहीं है, परमानन्द नहीं है। वह सब तो तत्त्वका परिणाम भी नहीं है, केवल विवर्त है—क्योंकि ज्ञानस्वरूप, सर्वावभासक तत्त्व परिणामी होता ही नहीं। इस अपने अनुभव स्वरूपमें सारे ही प्राप्त-अप्राप्त आकार विवर्तमात्र हैं। ऐसी स्थितिमें अज्ञान निवृत्तिके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। अज्ञाननिवृत्ति केवल ज्ञानसे ही सम्भव है। इसलिए मोक्षप्राप्तिके दो स्वतन्त्र मार्गोंका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जितने भी क्रियात्मक, भावनात्मक या विश्वासात्मक और अभ्यासात्मक साधन हैं, वे सब-के-सब साधन-चतुष्टय सम्पत्तिके उपार्जनमें ही चरितार्थ हैं और वे मोक्षके परम्परा साधन ही है। साक्षात् साधन तो केवल तत्त्वज्ञान ही है।

भगवान् आदि शंकराचार्यजीने अपने जीवनकालमें उपर्युक्त सिद्धान्तका प्रतिपादन अनेक ग्रन्थोंके माध्यमसे किया। उनका यह सिद्धान्त श्रौत-स्मार्त सम्प्रदायानुकूल एवं तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके अनुभवसे सर्वथा सुसंगत है। इस प्रकारके गम्भीर विचार एवं अनुभवसे युक्त ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे जिज्ञासुजनोंका भ्रम दूर होते देर नहीं लगती।

भगवान् भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजी महाराजको हमारे शत शत नमन!

✦

जाली प्रमाण-पत्र

आज हम अपने हृदयकी एक बात-हृदयकी वेदना आपको बतलाना चाहते हैं यदि आप किसीके विरुद्ध पड़ती हो तो पहले ही क्षमा माँग लेते हैं।

कल-परसों हमारे पास एक बालक आया था और उसने बताया कि महाराज, एक संस्था ऐसी है जिसको ढाई-सौ रुपया पहले देना पड़ता है और कुछ ढाई-सौ रुपया ही बादमें देना पड़ता है और वह एम. ए.का सर्टीफिकेट दे देती है, वह सर्टीफिकेट हमको मिल सकता है, आपकी क्या आज्ञा है? वह लें कि न लें। अब देखो, सर्टीफिकेट मिल जाने पर भी उसकी योग्यता तो कुछ बढ़ेगी नहीं। वह तो मैट्रिक तक पढ़ा है, सो वहीं तक उसकी योग्यता रहेगी क्योंकि उसने आई. ए., बी. ए. क्लासके क्रमसे एम. ए. पास नहीं किया और सीधे ही एम. ए.का प्रमाण-पत्र हासिल कर लिया।

यह बात सच्ची है या झूठी—उससे हमारा मतलब नहीं है, हम आपसे जो निवेदन करना चाहते हैं वह, यह है कि हमारी वेदान्तकी जो औपनिषद परम्परा है—भगवान् शंकराचार्यने जिसको बौद्धोंके द्वारा ध्वस्तप्राय हो जानेपर पुनरुज्जीवित किया—उसमें पहले धर्मानुष्ठान, उसके बाद उपासना, फिर योगाभ्यास माना है। धर्मको यदि आप मैट्रिक क्लासका समझो तो उपासनाको बी. ए. क्लासका समझो। योगको एम. ए. क्लासका समझो और जब वेदान्त तक पहुँचे तो समझो कि आपने डॉक्टरेट प्राप्त कर लिया। इस ढंगसे क्रमानुसार डी. फिल. हो गये आप!! यह है हमारे वेदान्त सम्प्रदायकी परम्परा!!

हम अपनी ही एक बात आपको सुनाते हैं। जब हम पहली बार अपने गुरुजीके पास गये तो उन्होंने कहा कि 'आओ, हम तुमको पंचदशीमें संविद्का जो स्वरूप है—उसके पहले दस श्लोक, जिनमें सारा वेदान्त सिद्धान्त है—वह पढ़ा देते हैं।' तब मैंने उनसे प्रार्थना की कि,

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥

पहले हमको तो भर-आँख साकार भगवान्‌का दर्शन चाहिए, हमारी आँखोंमें उस समय आँसू आगये थे। यह आपको इसलिए सुनाया कि, जब तक देहमें 'मैं' पना है और इन आँखोंसे जो दीखता है वह सच्चा मालूम पड़ता है, तबतक धर्मानुष्ठान, उपासना आदिका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। ये छत पर पहुँचनेकी सीढ़ियाँ हैं।

अभी थोड़े दिनोंकी बात है—एक वकीलसे चर्चा हो रही थी—उन्होंने बताया कि एक मुकदमेमें किसीको गवाही देनी थी, तो वकीलने पूछा कि 'जिनको गवाह बनाया जा रहा है—इनका नाम 'ब्लैकलिस्ट'में तो नहीं है?' क्योंकि हिसाब-किताबका मामला है और यदि ब्लैक लिस्टमें इनका नाम होगा तो जजकी अदालतमें इनकी गवाही मान्य नहीं होगी, भले ही ये साक्षी बनाकर अदालतमें पेश किये जा सकते हैं।

इसी प्रकार, जिन लोगोंका 'ब्लैक लिस्ट'में नाम लिखा हुआ है वे आज सत्यके सम्बन्धमें गवाह बन रहे हैं। जो लोग कामसे तादात्म्यापन्न होकर कामी होते हैं, क्रोधसे तादात्म्यापन्न होकर क्रोधी होते हैं, लोभ-मोहसे होकर लोभी-मोही होते हैं—वही अदालतमें उपस्थित होकर साक्षी हो जाते हैं। लेकिन याद रखो, यदि आप कर्मतः पापाचरणसे मुक्त होनेका प्रयास नहीं करते हैं, आप मनसे वासनासे मुक्त होनेका प्रयास नहीं करते और आप बुद्धिसे, जो तरह-तरहके संशय हैं, भ्रम हैं—उनसे छूटनेका प्रयास नहीं करते; अनादि अविद्यासे मुक्त होनेके लिए किसी तत्त्वज्ञकी साक्षिताको स्वीकार नहीं करते और स्वयं साक्षी होनेका दावा करते हैं तो आपकी साक्षिता झूठी है, क्योंकि आपके पास गवाही देनेका जो प्रमाण-पत्र है वह जाली एम. ए. जाली डी. फिल्‌की तरह आपको प्राप्त हुआ है। आपके अनजान होनेके कारण या शौक होनेके कारण या कोई महत्त्वाकांक्षा होनेके कारण एक राह चलता आदमी आपके सामनेसे गुजरा और आपको डिग्री देकर चला गया। श्रुति कहती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठो.)

'यदि आप दुश्चरित्रसे उपराम नहीं हुए हैं, यदि आपके मनमें काम-क्रोध आदि शान्त नहीं हो रहे हैं' और यदि आपका मनोराज्य नहीं मिट रहा है और यदि आप सिद्धियोंकी बात सुनकर व्याकुल हो जाते हैं तो विद्या चाहे कितनी ही बड़ी हो, बुद्धि कितनी ही बड़ी हो—भले ही आप कितने ही समझदार होवें, लेकिन आत्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं कर सकते। माने इसके लिए क्रम-क्रमसे चलना होगा और पहले योग्यता उत्पन्न करनी होगी।

तो, यह जो तत्त्वज्ञानकी सम्प्रदाय-परम्परा चली आ रही है—उसको भंग करके जिन लोगोंने अनधिकृत पुरुषोंसे अपने एम. ए. होने या डॉक्टरेटकी डिग्री प्राप्त कर ली है वे दूसरोंको भी धोखेमें डालते हैं और स्वयं भी धोखेमें पड़ते हैं। यह जाली डिग्री उन्हें कभी-न-कभी गड्ढेमें अवश्य गिरायेगी, जैसे दीयेसे दीया जलता है वैसे तत्त्वज्ञानीसे तत्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः गुरु-परम्परासे प्राप्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, शौकिया ज्ञान जो है—वह कभी अपनेको और कभी दूसरेको भी धोखेमें डाल सकता है, इसलिए आप लोग गुरु-परम्पराको अपनाते हुए सच्चा प्रमाण-पत्र ही प्राप्त करिये। जाली प्रमाण-पत्रसे सर्वथा बचिये!!

✦

पौरुष

वर्तमान परिवेशमें लोगोंको यह समझाना कि पौरुष-प्रयत्नसे सब कुछ हो सकता है—एक तरहका पिष्ट-पेषण ही है, क्योंकि आज चन्द्रलोककी यात्रा हो रही है, शुक्र पर विमान उतर रहे हैं, रॉकेट छोड़े जा रहे हैं, जिसकी कल्पना भी अबसे ५०वर्ष पहले लोगोंके मनमें नहीं आती थी—वह आज पौरुष प्रयत्नसे प्राप्त हो रहा है।

वेदान्त पूर्वकर्म प्रधान सिद्धान्त नहीं है और फलभोग-प्रधान सिद्धान्त भी नहीं है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे वेदान्तको ईश्वरकी परतन्त्रता भी सहन नहीं है। अद्वैत-सिद्धान्तकी दृष्टिसे पुरुष पराधीनताको कभी सहन ही नहीं कर सकता। यह पुरुषके रग-रगमें है, उसका स्वभाव है। आप जो चाहें सो पौरुषसे मिल सकता है।

कर्म-प्रधान सिद्धान्तमें यदि सबसे प्रबल कोई सिद्धान्त है तो वह जैन सिद्धान्त है और हमारे वैदिकोंमें पूर्वमीमांसाका कर्म-सिद्धान्त है, परन्तु जैनोंमें साधना, तपस्याके द्वारा पूर्वकर्म-जन्य आश्रय पर विजय प्राप्त करके मनुष्य वीतराग पदवी पर पहुँच सकता है। उनको यह जरूरत नहीं है कि ईश्वर उनके ऊपर कृपा करे। क्योंकि उनके यहाँ तो ईश्वरकी मान्यता ही नहीं है तीर्थंकर कृपा करे, तब उनका अन्तःकरण शुद्ध होगा—यह प्रयास नहीं करते हैं। तीर्थंकर तो तीर्थंकर होते ही अपने वीतराग शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है, वह किसीके ऊपर कृपा करनेके लिए आता ही नहीं है। मनुष्यको स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है—यह कर्मवादी जैन-सिद्धान्तका निश्चय है।

बौद्ध भी कर्मवादी हैं, परन्तु वासनाको निवृत्त करना यह उनका मुख्य सिद्धान्त है, वे भी मानते हैं कि पुरुष-प्रयत्नसे वासनाका निवारण करना चाहिए।

चार्वाक-मतमें पूर्वकर्म और उत्तर जन्म दोनों ही नहीं मानते, मनुष्य अपने इसी जीवनमें अपने पौरुष-प्रयत्नसे अपने जीवनका निर्माण कर सकता है।

पूर्वमीमांसकोंका कहना है कि मनुष्य यदि अपने जीवनमें ठीक-ठीक धर्मानुष्ठान करे और यदि वह धर्म फल यहाँ न दे सके तो उससे एक अपूर्वकी उत्पत्ति होती है और वह कर्ताके साथ जुड़ जाता है और फिर बादमें फल देता है, लेकिन वे पौरुषका अत्यधिक माहात्म्य मानते हैं, उनके अनुसार प्रपंच-सम्बन्ध विलयपर्यन्त पौरुषकी गति है। योगमें प्रपंच-विलय माना जाता है। लेकिन मीमांसक प्रपंच-विलय नहीं मानते। उनका कहना है कि दुनिया तो सदासे ऐसी ही चली आयी है—यही पंचभूत है, ऐसे ही स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी, स्थावर-जंगम पैदा होते हैं—बीच-बीचमें कोई मर जाते हैं, कोई पैदा होते हैं, तो उनके मतमें पौरुष-पर्यवसान कहाँ है? आत्माका प्रपंचके साथ जो सम्बन्ध है वह विलीन हो जाय, प्रपंच भी बना रहे, आत्मा भी बना रहे; परन्तु सम्बन्धकी जो बुद्धि है वह टूट जाय—पौरुषका यह फल है।

सांख्ययोगकी दृष्टिसे देखें तो योगाभ्यास सारा-का-सारा पौरुष-प्रयत्न ही है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-पर्यन्त।

हमारे देशमें जितने वैदिक भक्त-सम्प्रदाय हैं, उनमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज भगवान्‌के अनुग्रहका बहुत वर्णन करते हैं। परन्तु उन्होंने भक्तिको दो हिस्सोंमें बाँट दिया है—मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। मर्यादा-भक्ति कायदेसे करनी पड़ती है। बड़ा पौरुष होता है उसमें!! यह छूओ, यह मत छूओ, यह खाओ, यह मत खाओ। ऐसे रहो, ऐसे मत रहो, यह पुष्टिका, अनुग्रहका मार्ग है—लेकिन मर्यादाका पालन किये बिना ईश्वरकी ओरसे पुष्टि नहीं आती है।

श्रीरामानुजाचार्यका महाविश्वासका मार्ग है। महाविश्वास करो—इसमें

तुम्हारा कल्याण है। लेकिन वे भी भक्तिको, शरणागतिको महाविश्वास फलरूपा मानते हैं और क्रियायोग माने मन्दिरोंमें पूजा करना, खड़ा चन्दन लगाना, द्वादश तिलक धारण करना, क्या खाना, क्या नहीं खाना—इसका बहुत ध्यान रखा जाता है। क्रियायोग पौरुषका अनुष्ठान पहले होता है और फिर होती है प्रपत्ति, शरणागति!! मध्व सम्प्रदायमें भक्तिके दो रूप मानते हैं—वैधी और प्रेमलक्षणा भक्ति। प्रेमलक्षणाके आगे दो रूप मानते हैं—रागात्मिका और रागानुगा रागात्मिका भक्ति तो होती है यशोदा, राधा आदि सिद्ध भक्तोंकी और मानव भक्तोंमें रागानुगा भक्ति मानी है। लेकिन उसके पहले उन्हें वैधी भक्ति करनी पड़ती है। भगवान्‌की वैधीभक्ति माने विहित भक्ति-वृन्दावनके श्रीराधारमणजीके मन्दिरमें आप दर्शन करने जाइये और पुजारीको यदि आप छू जाँय तो उसे तुरन्त मन्दिरमें-से निकलकर स्नान करना पड़ेगा। कहनेका अभिप्राय यह कि पवित्रता-अपवित्रताका इतना अधिक ध्यान रखा जाता है—जो वैधी भक्तिके अन्तर्गत है। इसी प्रकार श्रीनिम्बकाचार्यजीने भी साधन-भक्ति और रस-भक्ति—दो रूप भक्तिके माने हैं—

अतः स्पष्ट है कि सभी आचार्योंने साधन पर विशेष जोर दिया है।

आपने सुना है न, कि 'जो खुद अपनी मदद नहीं करता खुदा भी उसकी मदद नहीं करता और जो अपनेको जोखिममें नहीं डालता—वह कभी फायदा भी नहीं उठा सकता।' खतरा उठाये बिना कभी कोई लाभ नहीं होता। अब हम हाथ-पाँव फैलाये पड़े रहेंगे और जो होना हो सो हो-ऐसा जवान आदमी, युवा साधक जो आशावान है, अपने लक्ष्यके लिए दृढ़वान् है, कैसे सोच सकता है? यदि कोई बूढ़ा हो, रोगी हो, खाटपर पड़ा हो तो जैसे होना होय सो होय—ऐसा सोच भी सकता है। नहीं तो पुरुषके पौरुषत्वकी अभिव्यक्ति कैसे होगी? क्या हम केवल वासनाके अधीन होकर जीवन व्यतीत करनेके लिए पैदा हुए हैं? नहीं, जवान आदमीका काम यह है कि यदि कोई हमको गुलाम बनावे, यदि कोई हमको पराधीन करे तो लेकर डंडा तैयार हो जाय। जवानका काम तो संघर्ष है। पलायनवाद तो असमर्थ बुड्ढे लोगोंके लिए है। गुलामी केवल

आदमीकी ही नहीं होती। गुलामी अपनी वासनाकी भी होती है। जब हमारा मन कुमार्ग पर शरीरको घसीटता हैं तो उस समय हम मनके गुलाम होते हैं। कोई भी जवान साधक, जिसको पुरुषकी स्वतन्त्रता प्रकट करनी है, जिसको अपनी गुलामी मिटानी है—वह मनकी पराधीनता कबूल नहीं कर सकता कि हमारा मन जो कहेगा सो करेंगे 'योगवासिष्ठ'के 'मुमुक्षु व्यवहार' प्रकरणमें वसिष्ठजीने श्रीरामको बताया कि—

पौरुषेण प्रयत्नेन त्रैलोक्यैश्वर्यसुन्दराम्।
कश्चित्प्राणिविशेषो हि शक्रतां समुपागतः॥
पौरुषेणैव यत्नेन सहसाम्भोरुहास्पदम्।
कश्चिदेव चिदुल्लासो ब्रह्मतामधितिष्ठति॥
सारेण पुरुषार्थेन स्वेनैव गरुडध्वजः।
कश्चिदेव पुमानेव पुरुषोत्तमतां गतः॥
पौरुषेणैव यत्नेन ललनावलिताकृतिः।
शरीरी कश्चिदेवेह गतश्चन्द्रार्द्धचूडताम्॥

दुनियाका चाहे जो आदमी यदि ठीक-ठीक अपने पौरुषका प्रयोग करे तो विश्वामित्रने जैसे ब्रह्माजीके मुकाबले दूसरी सृष्टि बना दी थी वैसे ही उसमें सृष्टिके निर्माणका सामर्थ्य है। सदंश होनेसे वह सर्वाकार हो सकता है, चिदंश होनेसे वह सर्वज्ञ हो सकता है, आनन्द होनेसे वह सर्वभोक्ता हो सकता है और अद्वितीय होनेसे वह किसीके द्वारा अभिभूत नहीं हो सकता—दब नहीं सकता। तो साधकके जीवनमें पौरुषका प्रकट होना अनिवार्य है। आज तक जो कुछ, जिस किसीको, जब कभी प्राप्त हुआ है—पौरुषसे मिला है।

एक हलवाहा था। एक दिन हल जोतते-जोतते जब वह पेड़के नीचे कलेऊ करने गया तो अचानक एक बड़ी-सी चिड़िया उसके सिरसे टकरायी और गिर पड़ी उसने झटसे उसे पकड़ लिया, बाजारमें जाकर बेचा तो २० रुपये मिले। अब उसने सोचा—ऐसे ही हल चलाते हैं, साल-भर मेहनतमें क्या मिलता है? यह रोजगार बहुत बढ़िया है—शरीरसे चिड़िया टकराये और फिर बहुत सारा रुपया मिले। सो उसने खेती छोड़ दी—बैल बेच दिये। अब

इस आशासे जंगलमें घूमा करे कि कोई चिड़िया हमसे आकर टकराये!! वह तो भूखों मर गया।

कहनेका अभिप्राय यह है कि आप संयोग पर जो काम छोड़ देते हैं कि 'यह हो जायेगा'—गलत है, संयोगवश छोड़ देनेसे आप चन्द्रग्रह, शुक्रग्रह पर नहीं जा सकते, न तो आप बाह्य शत्रुपर और न ही आन्तर शत्रु पर ही विजय प्राप्त कर सकते हैं।

जब वर्षा होती है और पानी इधर-उधर फैलने लगता है तो किसान क्या करते हैं कि जरा फावड़ा लेकर एक ओर नाली-सी बनाते चले जाते हैं और उस फैलते हुए पानीका झुकाव जिधर गहरायी बना दी जाती है, उधर हो जाता है और जो पानी फैलकर बिखर जाता वह, जिस खेतमें वे ले जाना चाहते हैं, उस खेतमें पहुँचा देते हैं। बिलकुल थोड़ेसे पौरुषकी जरूरत पड़ती है, क्योंकि वह तो एक ओर झुकाव होना चाहिए। तो क्या आपके मनमें बुरी-बुरी बातें ही आती हैं? अच्छी बातें आती ही नहीं कभी? आप जरा फावड़ा उठाइये और अच्छी बातोंकी ओर उसका झुकाव कर दीजिये। ऐसा करनेसे किंचित् भी अशुभ प्रवाह आपको अपनी ओर न बहा सकेगा।

मनोमोहवने ह्यस्मिन् वेगिनी वासनासरित्।
शुभाशुभबृहत्कूला नित्यं वहति जन्तुषु॥
सा हि स्वेन प्रयत्नेन यस्मिन्नेव निपात्यते।
कूले तेनैव वहति यथेच्छसि तथा कुरु॥
पुरुषयत्नजवेन मनोवने शुभतटानुगतां क्रमशः कुरु।
वरमते निजभावमहानदीमहह तेन मनागपि नोह्यसे॥

अतः यह 'पौरुष' माने साधना छोड़ देनेका जो उपदेश है वह, आपकी प्रगतिका अवरोधक है।

अब पौरुष करनेका अर्थ क्या है? इसपर पहले आपको अपने बचपनकी एक बात सुनाते हैं—हमारे घरमें लकड़ीका काम करनेके लिए बढ़ई आया करते थे तो हमारे लिए वह बहुत बढ़िया खेल हो जाता था। हम भी आरी लेकर उनके साथ लकड़ी काटने लगते थे, वसीला चलाते थे, एक

बार अपने आप वसीला मारा तो जितना कटना चाहिए था उससे ज्यादा कट गया। आरी चलाने लगा तो वह टेढ़ी हो गयी, अटक गयी। बढ़ईने देखा तो पासमें आकर समझाया कि देखो, इतनी जोरसे वसीला मारो तो ठीक-ठीक कटेगा, इस अंदाजसे आरी चलाओ तो लकड़ी कट जायेगी, उसने हमको सिखाया।

तो देखो, सीखकर पौरुष करना और बिना सीखे पौरुष करना— दोनोंमें अन्तर पड़ जाता है। एक हमारा परिचित बालक अमेरिकासे व्यापार करना सीखकर आया। उसको बड़ा अभिमान कि हम यह करेंगे, यह करेंगे, यह करेंगे। यहाँके अनुभवी लोगोंने समझाया कि देखो, तुम तो अमेरिकासे सीखकर आये हो और व्यापार तुमको यहाँ करना है सो पहले यहाँकी परिस्थितिको समझो फिर व्यापार शुरू करो। परन्तु, वह नहीं माना, आखिर उसे पहले एक-दो लाख रुपयेसे व्यापार शुरू करनेके लिए अनुमति दे दी, उसने व्यापार किया, लेकिन घाटा हुआ तब उसकी समझमें आया कि अपनेसे जो ज्यादा जानकार हैं, अनुभवी हैं उनके साथ रहकर पहले हमको यहाँकी परिस्थितिको समझना चाहिए केवल जानकारीसे काम नहीं चलता है—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। (गीता ४.३४)

आप सुनते है कि डॉक्टरी करना हो तो डॉक्टरके साथ रहकर सीखेंगे; वकालत करना हो तो बड़े वकीलके साथ रहकर सीखेंगे, व्यापार करना हो तो बड़े व्यापारीके साथ रहकर सीखेंगे और साधना करनी हो तो आप अपने मनसे अपने आप ही कर लेंगे? असलमें साधनासे जो प्राप्त होता है, उसके बारेमें आपका ठीक-ठीक 'आइडिया' नहीं है, वह किस दिशामें मिलेगा— वह मालूम नहीं है, तो इसमें अनुभवी पुरुषके अनुभवसे लाभ न उठाना अपनेको धोखेमें डालना है। रास्ता चलनेके लिए अनुभवी पुरुष, जाना हुआ रास्ता चाहिए।

आप खेती भविष्यपर नहीं छोड़ सकते, व्यापार भविष्य पर नहीं छोड़ सकते, होनहार पर नहीं छोड़ सकते, रोगको होनहार पर नहीं छोड़ सकते; अपने छोटे बच्चेको होनहार पर नहीं छोड़ सकते और आप अपने मनको

होनहार पर छोड़ दें—यह तो आपकी बुद्धिमत्ता नहीं!! साधनाका जो समय है उसका नाम है—वासनाके वेगको मर्यादाके अन्दर ले आना, पौरुषको शास्त्रीय बना देना, शिष्टानुसारी साधनाको बना देना—यहाँसे वासनाक्षयका मार्ग प्रारम्भ होता है और ऐसा मजा आता है इसमें कि भोगका जो मजा है उसमें तो कुछ है ही नहीं। जिन लोगोंने साधना नहीं की केवल भोगका ही मजा लिया है, उनको फोड़ा फूटनेका मजा तो मालूम है कि फोड़ा फूटनेपर राहत मिलती है, लेकिन स्वस्थ शरीरका क्या आनन्द होता है—यह उनको नहीं मालूम है। शरीरका स्वास्थ्य दूसरी चीज है और फोड़ेके फूटनेका, दर्द मिटनेका आनन्द दूसरा है, यह जो साधनाका आनन्द है, यह स्वास्थ्यका आनन्द है।

कहते हैं, भाई बचपनसे हमारी ऐसी आदत पड़ गयी है, अरे! आदत पड़ी है तो डालनेसे ही तो पड़ी है न!! यदि बालकपनेसे तुमने शास्त्रका, सत्संगका अभ्यास नहीं किया है तो कोई हर्ज नहीं, तब? आजसे शुरू करो!! आपके जीवनका शुभ दिन आज है। आपकी साधनाके मंगलाचरणका दिन आज है। आजसे कहो कि हम बुराई छोड़ते हैं, आप वासनाकी परतन्त्रता, वासनाकी गुलामी मत स्वीकार करो, डट जाओ, जैसे आजका जवान बालक अपने माँ-बापके सामने डट जाता है कि हम तो यही करेंगे, तुम क्या करोगे? वैसे ही आप अपने मनके सामने डट जाओ। आओ, आप गुणको धारण करके प्रयत्न करो, आप जो चाहते हो सो मिलेगा!!

✦

मनकी चिकित्सा

हमारे जितने भी साधन-साध्योंका वर्णन है, वह व्यक्ति और समान संस्कारवाले व्यक्तियोंकी दृष्टिसे है। परन्तु, आजकल मनोविज्ञानकी शाखाओंमें भेद दिखायी देता है। एक तो हमारा वैदिक मनोविज्ञान है और दूसरा है वैज्ञानिक अथवा भौतिक मनोविज्ञान। इसमें भेद क्यों हुआ? इसके मौलिक मतभेदका कारण यह है कि जहाँ हमारे वैदिक मनोविज्ञानके अनुसार मन बाहरके पदार्थोंसे पैदा नहीं हुआ है—अन्तरंग पदार्थोंसे मनकी अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ भूतोंसे मनकी व्युत्पत्ति हुई—यह भौतिक मनका सिद्धान्त है। ये मानते हैं कि अमुक-अमुक चीज मिल जानेसे जैसे शरीरमें अमुक क्रिया होने लगती है, ऐसे ही अमुक-अमुक चीज मिल जानेसे मन भी शरीरमें पैदा हो जाता है। माने मन शरीरमें विषयोंसे उत्पन्न हुआ है और इसीसे आज मनकी सारी दवा भौतिकताके आधारपर की जाती है। आपको एक-दो बात आजकलकी चिकित्साकी भी सुनाते हैं।

हमारे जान-पहचानके एक दम्पती हैं, उनमें कुछ मन-मुटाव हो गया। पतिको पत्नी बहुत देखती नहीं थी, तो पतिके सिरमें तनाव रहने लगा। उसको लगे कि हमारी बुद्धि तो गड़बड़ा रही है। तो वह एक मनोवैज्ञानिक डॉक्टरके पास गये। डॉक्टरने उनको सीधी सलाह दी कि घरमें तो तुम्हारी पत्नी है, पर तुम अपने लिए अलग एक लड़की और रख लो। थोड़े दिन तक तो उनके मनमें हिचक रही; क्योंकि जरा हिन्दू-धर्मका संस्कार था। फिर जब देखा कि हम पागल ही हो जायेंगे तो उन्होंने सचमुच एक लड़की रख ली, थोड़े दिन तो ठीक चला। परन्तु, धीरे-धीरे वह लड़की पैसा खींचने लगी। छः महीनेमें ही उस लड़कीसे भी मन-मुटाव होने लगा। फिर आया सिरमें तनाव कि अब क्या करें? फिर उसी

डॉक्टरके पास गये कि अब क्या करें? तो, उस डॉक्टरने उन्हें सलाह दी के उस लड़कीको छोड़ और तीसरी रख लो, हम कल्पना करके यह बात बेलकुल नहीं कह रहे हैं, घटना बिलकुल सच्ची है। जब तीसरी उन्होंने रखी तो असली पत्नी जो थी, वह पागल होने लगी। तब वे उसे भी उसी डॉक्टरके पास ले गये। तब उसको क्या सलाह दी। वह आगेकी बात हम छोड़ देते हैं आप लोग स्वयं ही समझ गये होंगे!!

हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह जो मनको एक विषयके बाद दूसरा, फिर तीसरा, फिर चौथा अर्थात् विषय पर विषय देकर जो शान्त करनेकी पद्धति है—हम नहीं समझते कि इसमें कौन-सा सांस्कृतिक विज्ञान है, कौन-सा सामाजिक विज्ञान है, कौन-सा धार्मिक या आध्यात्मिक विज्ञान है, इसको तो बोलते हैं—'व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा'

एक होती है, 'हेतु प्रत्यनीक चिकित्सा' और दूसरी होती है 'व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा'।

'व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा' माने क्या? हम आपको अपने बचपनकी एक बात बताते हैं। हम कभी रोने लगते कि हमको अमुक चीज चाहिए तो, घरके लोग क्या करते कि, गुड़ लाकर हमको दे देते कि यह खाओ। हम गुड़ खाने लगते तो चुप हो जाते, खुश हो जाते और जहाँ गुड़ खतम हुआ कि फिर रोना शुरू हुआ—नहीं, हमको तो और चाहिए!! तो, मनको थोड़ी-थोड़ी देरके लिए कुछ दे-देकर बहला देना—यह मनकी सच्ची चिकित्सा नहीं है।

अब दूसरा सिद्धान्त देखो—जो कहता है कि भौतिक पदार्थोंसे नहीं, कामसे मन बना है। इसके प्रवक्ता है 'फ्रायड'। जो कहते हैं कि मनमें कामसे ही सारी-की-सारी वृत्तियाँ उठती हैं। हम भी इस बातको जानते हैं, इसका मूल भी अपने शास्त्रमें है। विवाहमें एक मन्त्र पढ़ा जाता है—

कोऽदात कस्मै अदात।
कामोऽदात कामायै अदात।
कामो दाता, कामो हि प्रतिगृहीता, कामो हि दत्ते।

किसने दिया? किसके लिए दिया? कामने दिया, कामको दिया जब

बापने कन्यादान दिया, तब उसके मनमें भी काम था और जब वरने कन्याका प्रतिग्रह किया तो उसके मनमें भी काम था—दोनोंके भीतर कामना ही काम कर रही है!

परन्तु, फ्रायडका सिद्धान्त कुछ अलग ढंगका है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि जब बच्चे पर थाप देते हैं, उसको चूम लेते हैं तो उसको जो खुशी होती है, वह भी कामरूप ही है। तो, कामसे उत्पन्न हुआ मन, मनोवृत्ति और संकल्प—तब बिना कामपूर्तिके वह शान्त कैसे हो? माने कामनाकी पूर्तिको यह आवश्यक मानते हैं।

एक तीसरे दार्शनिक हैं, वे कहते हैं कि विषयकी सत्ता होनेसे कामका उदय होता है और कामनाका उदय होनेसे बिना हुई सत्ता भी भासने लगती है, इसलिए कामना और वस्तुका द्वन्द्व है, जिससे यह सृष्टि चल रही है।

अब हम अपने वैदिक दृष्टिकोणको बताते हैं। यह जो हमारे मनमें काम आता है—वह शुद्धज्ञानसे नहीं आता है। तब कैसे आता है? देखो, आँखका काम केवल घड़ीका समय बताना है। यह घड़ी हम ले लें—यह बताना आँखका काम नहीं है, यह घड़ी हमेशा हमारी आँखके सामने रहे—यह बताना भी आँखका काम नहीं है। ज्ञान जो है, वह वस्तुको प्रकाशित मात्र करता है, उसको अच्छी बताकर चाहना या उसको बुरी बताकर उससे परहेज करना—यह ज्ञानका काम नहीं है। अतः बुद्धिका काम हित-अहित बताना है, हितको पकड़ना और अहितको छोड़ना—यह बुद्धिका काम नहीं। इसी तरह, मन भी प्रिय-अप्रियको बताता है, नेत्र इन्द्रिय भी रूप-कुरूपको बताती है, परन्तु इसको पकड़ लो या इसे छोड़ दो—यह नहीं बताती माने कहीं भी ज्ञान ससंग नहीं होता। अब प्रश्न यह हुआ कि किसीके प्रति मनका झुकाव हुआ तो हम उसको चाहते हैं कि यह हमारे साथ रहे और किसीसे नफरत हुई तो मनमें होता है कि यह हमारे साथ न रहे—यह नफरत अथवा झुकाव क्यों होता है? इसमें संस्कार हेतु है, ज्ञान हेतु नहीं है। हम अपनी बात कहते हैं कि हम लोगोंकी स्थिति ऐसी है कि अगर मांस हमको आँखसे खुला दिख जाय, तो थूकनेका मन हो जायेगा, क्यों? क्योंकि, हमारे संस्कार ऐसे हैं, और

कसाईकी दूकान पर दिन-भर मांसका काम होता है और उन्हें थूक नहीं आता है—घृणा नहीं होती है—क्योंकि उनके संस्कार दूसरे ढंगके हैं।

तो, यह जो राग-द्वेष उदय होता है, ज्ञानसे उसका सम्बन्ध नहीं है। अभ्यासजनिक संस्कार, समाजके संस्कार और अपने शास्त्रके संस्कारसे उसका सम्बन्ध है। हमारे यहाँ ऐसा मानते हैं कि यह जो मनमें राग-द्वेष है—वह आँखमें नहीं है, नाकमें नहीं है, जीभ व त्वचामें नहीं है—यह तो हमारे अभ्यासके संस्कारसे आया हुआ है और राग-द्वेषके कारण हमें सुख-दु:ख होता है। अत: इसमें जो मन है—वह मन कितना ज्ञानात्मक मन है और कितना संस्कारात्मक मन है?—इसका हमको विवेक करना चाहिए। ज्ञान वह है, जो चीजको ज्यों-का-त्यों बताता है, किसीमें राग-द्वेष नहीं करवाता और संस्कार वह है—जो चीजमें राग-द्वेष करवा देता है। और, इसी संस्कारसे बुद्धि, मन आक्रान्त होते हैं तथा हम सुखी-दु:खी होते हैं।

आपने सुना ही होगा कि रामकृष्ण परमहंसके साथ ही एक सज्जन रहते थे। वे उनकी बड़ी निन्दा करते थे। परन्तु रामकृष्ण उससे बिलकुल द्वेष नहीं करते थे, बल्कि उन्हें बहुत प्यार करते थे। उन्हींका बनाया हुआ खाया करते थे। किसीने पूछा कि ऐसा क्यों? परमहंस बोले कि इसकी वजहसे लोग हमारे पास कम आते हैं—हमको शान्ति रहती है। यह देखो! कोई संसारी होवे तो निन्दा करनेवालेको मारने ही दौड़े!

एक बारकी बात है, एक आदमी हमारा पहले बहुत मित्र था। बादमें उसके मनमें कब दुर्भाव आ गया—इसका पता हमको नहीं चला। उसकी बुद्धि उलट गयी! हम जब बनारसमें थे, वह हमारे पास आया और आकर लोगोंके बीचमें उसने हमको चार बात सुनायीं। हमको तो बड़ी खुशी होये कि इसका कितना प्रेम है, कितना अपना समझता है कि ऐसे बोलता है!! यहाँ तक कि उसने हमारा कान पकड़ लिया और कहा कि यहाँसे निकल जाओ! लेकिन, मुझे ज़रा भी बुरा नहीं लगा। दो-तीन घंटे बाद एक आदमी आया और उसने हमको बताया कि उस व्यक्तिने हमको बताया कि आज मैंने बच्चूका खूब मजा किया। क्या वह यहाँ आया था? मैंने सारी बात बतायी।

सुनकर वह व्यक्ति बोला कि अरे! वह तो तुम्हारा बड़ा दुश्मन हो गया है। उसको कुछ गलत फहमी हो गयी है—बड़ा दुर्भाव करता है, अब यह सुनकर हमको बड़ा दु:ख हुआ, दो-तीन घंटे पहलेकी खुशी सब भूल गयी। तो, यह जो बुद्धिमें अनुकूलता एवं प्रतिकूलताकी जानकारी है—यह हमको सुख-दु:ख देती है, कोई हमको रोग दूर करनेके लिए दवा देता है तो खुशी होती है कि देखो, यह हमसे कितना प्रेम करता है। थोड़ी देरके बाद एकने आकर कहा कि अरे भाई! वह तुम्हारा दुश्मन हो गया है—तुमको जहर दे गया है, बस, दवा वही-की-वही तुरन्त मनमें शंका हो जाती है! कहनेका अभिप्राय यह है कि वस्तु देखकर हमारा मन नहीं बिगड़ता, बुद्धि हमारे मनकी प्रेरक है और बुद्धिमें भी हमारे संस्कार कार्य करते हैं। अपनी बुद्धिमें अपने वेद-शास्त्र, सम्प्रदाय, समाजके अनुसार जो अच्छा-बुरा हम बैठा लेते हैं—उसके प्रतिकूल होनेपर हमको बहुत दु:ख होता है और रोग होता है तथा अनुकूल होनेपर वह रोग नहीं होता, वह प्रतिकूलता नहीं होती, दु:ख नहीं होता। इसलिए, यह सुख-दु:ख हमारे ज्ञानका काम नहीं, हमारी आदतका काम है, इसके निवारणके लिए भी बड़ी-बड़ी युक्तियाँ हैं, थोड़ी उसकी भी चर्चा कर लेते हैं।

आप लोगोंने वाममार्गियोंका नाम सुना होगा! वे कहते हैं कि जिन-जिन चीजोंके बारेमें तुम्हारा यह संस्कार है कि यह काम बुरा है, यह खाना-पीना बुरा है—अमुक मात्रामें और अमुक अवस्थामें उस वस्तुको स्वीकृति दे दो। माने पूरी तरहसे स्वीकृति देना वामतन्त्रमें भी नहीं है। सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है कि जो उसके मनमें आवे सो खा ले—मर जायेगा! जो मनमें आवे सो कर ले—मर जायेगा। अच्छा, जो मनमें आवे सो उठाकर ले आये—वह तो पकड़ा जायेगा। अत: कर्ममें, वस्तुके संग्रहमें, भोगमें और बोलनेमें एक व्यवस्था होनी चाहिए। जैसे, होलीके दिन गाली देनेकी छुट्टी रहनी चाहिए—उसमें समाज-सुधारकोंकी ज्यादा नहीं चलनी चाहिए। ससुरालमें जानेपर गाली सुननेकी आदत रहनी चाहिए। क्रिसमसके दिन नाचनेकी छूट होनी चाहिए। यह भी एक मनोवैज्ञानिक वस्तु है। यह जो बिलकुल रोक है—यह मनको मारती है और व्यवस्थापूर्वक जो रोक होती है—वह मनको

स्वस्थ रखती है। संकीर्तनमें खूब गा लो, नाच लो। जबानको हमेशाके लिए जोड़कर रखोगे तो भीतर-ही-भीतर उसका एक गुब्ज बन जाता है—यह बात हमको बचपनमें हमारे बड़े-बूढ़ोंने बतायी थी। उनका तो कहना था कि ऐसी कोई क्रिया नहीं है जो किसी दिन ग्राह्य न हो। देखो, जैसे जूठा नहीं खाना चाहिए। लेकिन, जगन्नाथपुरीमें इसकी छूट है। वस्तुमें अशुद्धि नहीं होती, वस्तु तो ब्रह्म है। वैदिक धर्ममें दीवालीके दिन मनमाने ढंगसे जुआ खेलनेकी छूट है।

जिन लोगोंने एक क्रियाको धर्म मान लिया, एक तरहकी रहनीको ही धर्म मान लिया और एक तरहकी वस्तुको ही धर्म माना उन्होंने हमारे वैदिक मनोविज्ञानको नहीं समझा—बल्कि उसे चौपट ही कर दिया। वे तो वस्तु, क्रिया, व्यक्तिमें ही अटक गये। अहिंसा धर्म है; लेकिन वह इतना जड़ धर्म नहीं है कि परराष्ट्र हमारे ऊपर आक्रमण कर दे और हम उसका मुकाबला न करें—चोर और डाकू आकर लूट लें और हम उनका मुकाबला ही न करें? ब्रह्मचर्य धर्म है, लेकिन उसका यह अर्थ नहीं है कि ब्याह नहीं करें। ब्याह तो व्यवस्थापूर्वक ब्रह्मचर्य है।

अब आप उपासनाकी दृष्टिसे देखो। जहाँ वस्तुको ही मन, वासनाका कारण मानते हैं, वहाँ तो वस्तुके द्वारा नियन्त्रण करते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा नियन्त्रण करते हैं और जहाँ बुद्धिको हेतु मानते हैं, वहाँ बुद्धिको समझाना चाहिए।

एक आदमीने एक महात्मासे कहा कि हमको वह आदमी बहुत बुरा लगता है—उससे हमको घृणा होती है। हमको क्या करना चाहिए? महात्मा बोले कि देखो, रातको सब काम करनेके बाद और सोनेसे पहले ऐसे दुहराओ कि वह आदमी हमसे दुश्मनी नहीं करता है—वह हमारा भला चाहता है और वह जो करेगा, उसमें हमारा भला होगा, उसमें भी ईश्वरका हाथ है, मैं अपना प्रेम उसको देता हूँ। हे मेरे प्रेम! इसी समय तू उसके पास चला जा। जब वह सो जाय तो तुम उसको आलिंगन कर लो। जब प्रातः नींद टूटे तो फिर यही दुहराओ। तो, यह भी अपने मनको मनानेकी पद्धति है।

बुद्धिको सुधारना तत्त्वज्ञानसे होता है कि सचमुच जिसको तुम दोस्त, दुश्मन समझते हो—राग-द्वेषमें फँस रहे हो—वह ऐसा नहीं है और चित्तमें जो चंचलता है, कभी यहाँ और कभी वहाँ—उसको योगसे सम्भालना तथा सबमें ईश्वर-दृष्टि करके उसको प्रेम करना भक्तिका सिद्धान्त हुआ और धर्मसे मनको रोकना नहीं, मनको व्यवस्थित करना होता है। मनको जो डंडा मारकर रोकना चाहते हैं या केवल आज्ञा देना चाहते हैं—वह शास्त्रीय दृष्टि नहीं है।

योग शास्त्रमें चार बात मानी हुई हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। अगर कोई सुखी दिखे तो उससे ईर्ष्या मत करो। इस संसारमें मनुष्यको सुख मिलना बड़ा मुश्किल है। अगर, किसीको किसी कारणसे सुख मिलता है तो उसमें तुम मक्खी मत बनो। मैत्री करो कि अरे, यह तो हमारा मित्र है, भाई है, यह तो हमारी बहन है। जैसे, हमारा भाई अगर दुनियाका राजा हो गया तो हम हो गये कि नहीं? एक भी भारतीय अगर स्वतन्त्र हुआ तो हम भारतीय स्वतन्त्र हो गये कि नहीं हो गये? तो, अपनेको सुखीके प्रति मैत्रीकी भावनासे जोड़ देना—दूसरेके सुखमें अपनेको सुखी समझा लेना। और, जब दूसरेको दु:खी देखें तब? घृणा नहीं करना—अरे, यह कोढ़ी है। उसपर करुणा करनी चाहिए—उसको खिलाओ-पिलाओ, उसकी चिकित्सा करो। किसीको पुण्य करते देखो तो स्पर्धा मत करो कि यह हमसे आगे बढ़ते हैं? खुश हो जाओ कि वाह-वाह, ऐसा पुण्यात्मा धरती पर है और यदि कोई पाप कर रहा हो तो उससे दुश्मनी मत जोड़ो! उसकी तरफसे आँख ही घुमा लो। अथर्ववेदमें एक मन्त्र आता है—

ॐ सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

हम तुम्हें अविद्विष्ट बनाते हैं। परस्पर कभी विलगाव मत करना—विद्वेष नहीं करना। अपने मनको हमेशा सम्यक्‌भावमें रखना!

कहनेका अभिप्राय यह है कि संसारमें यह जो दु:ख होता है—अधिकांशतः मानसिक ही है। अन्न न मिलनेका दु:ख कम है, कपड़ा न मिलनेका दु:ख कम है, कुर्सी न मिलनेका दु:ख कम है। घबड़ा करके यह तो मन ही अपना ऐसा होता है—नहीं तो दिनमें सत्रह बार सुखी और

प्त्रह बार दुःखी—ऐसा कैसे हो सकता है? यह मनीराम ही हैं, जो अपने भीतर ही बैठे-बैठे कभी दुःख, कभी सुख बनाते रहते हैं, लेकिन इन-पर ज्यादा जोर नहीं लगाना, इनको मनाना चाहिए। इसे 'चित्त प्रसादन' बोलते हैं।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज तो कहते थे कि, रोना आवे तो, शान्तिके साथ उठकर कमरेमें चले गये और कमरा बन्दकरके रो लिया। रोना रोको मत! रो लेनेके बाद तुम्हारा चित्त ऐसा स्वस्थ होगा कि क्या पूछना? अगर किसीको गाली देनेका मनमें आवे तो उसके पास जाकर गाली मत दो। कमरा बन्दकर दीवारको गाली देना शुरू करो तो तुम्हारी भड़ाँस मिट जायेगी और तुम्हारा मन प्रसन्न हो जायेगा। इसी तरहसे अपने मनमें बहुत प्रेम आवे तो अपने हृद्देशस्थ जो भगवान् हैं—उनके साथ वह प्रेम जोड़ दो!

अन्तमें, निष्कर्ष यह निकला कि वेदान्तकी दृष्टिसे सब एक है—अद्वय आत्मा, ज्ञान स्वरूप, भक्तिकी दृष्टिसे सब ईश्वर है, योग और सांख्यकी दृष्टिसे सब प्रकृति है और भौतिकवादियोंकी दृष्टिसे सब पंचभूत है। तत्त्वकी दृष्टिसे सृष्टिमें कहीं भेद नहीं है, यह तो हमारे संस्कारोंने हमारे ज्ञानमें, हमारे मनमें झूठा भेद डाल दिया है और इस भेद-भ्रान्तिके वशमें न होकर यदि हम समताके साथ सारे व्यवहार करते चलें आग्रह न करें—जिद्द न करें तो हमारा मन हमेशा सुखी रहेगा, प्रसन्न रहेगा। यही इसकी चिकित्सा है!

✦

जिज्ञासा और समाधान

प्रश्न : ध्यानमें, चिन्तनमें अच्छी-अच्छी बातें सूझती हैं, पर बादमें भूल जाती है, इसका क्या कारण है? पूज्यश्री कृपया समझावें।

उत्तर : देखो, दो टूक बात कह देते हैं कि जिसे दुनियामें बहुत-सी बातें याद करनी होती है, उन्हें आत्मा सम्बन्धी विचार भूल जाते हैं। छोटा-सा दिमाग और उसमें हजारों विचार भरे हुए हैं। हिन्दुस्तानसे अमेरिका तक और अमेरिकासे हिन्दुस्तान तक सारी बातें याद रखनी हैं तो ईश्वरकी बातें कैसे सूझेंगी अथवा याद रहेंगी?

असलमें, अपना हृदय शुद्ध होना चाहिए। केवल हवामें उड़ना नहीं है। जिस समय मन निर्विषय होगा, उस समय मन परमात्मासे एक होगा। परमात्मामें मन लगाना माने परमात्मामें मनको बैठा देना। मनमें बाहरका चिन्तन नहीं तो जिसके आश्रयमें है, उससे अलग दिखेगा ही नहीं, बाहर कोई रचना करनेमें लगेगा तो अपनी कारीगरीमें मन लगेगा, और, जो अपनी रचनामें विचरेगा वह विषयमें है, लेकिन जिसका मन आश्रयमें रहेगा, उसका मन जड़ नहीं चेतन है।

यह अध्यात्ममार्ग व्याख्यानबाजी नहीं है, जैसे आजकलके व्यापारी लोग अगली पीढ़ीके लिए इकट्ठा करते हैं—खुद कृपण, वैसे ही दूसरोंकी भलाईके लिए जो व्याख्यान करते हैं, वे परोपकारी तो होते हैं, लेकिन अपनेको छोड़ देते हैं।

सत्यको जाने बिना आदमी जी रहा है, यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, अन्धकारमें जैसे कोई दौड़ रहा हो—इधर-उधर। कितना रुपया मिलेगा तब सुखी होंगे? कोई स्त्रीसे, पुत्रसे संतुष्ट रहते हैं और जन्मों तक इसीमें सन्तुष्ट

रहते हैं। पर, आखिरमें तो असन्तुष्ट होंगे ही, क्योंकि जिसकी सत्ता अनन्त नहीं है, चित्ता स्वयंप्रकाश नहीं है माने विवेक रहित हो, आनन्द क्लेशरहित नहीं है—वही कुछ करने, पाने, तारीफ भोगनेसे सुख मानता है। लेकिन उसका अन्त दुःखमें ही होता है, श्रुति तो कहती है कि जो सत्यके ज्ञानके बिना सन्तुष्ट रह सकता है, उससे अधिक दुर्भगा दुनियामें कोई नहीं।

वस्तुतः परिच्छिन्न वस्तुओंमें शान्तिका भ्रम ही होता है, सच्ची शान्ति उनमें नहीं। जो चिन्तन करेगा, उसीका मन शान्त होगा और उसीको नयी-नयी बातें सूझेंगी, याद रहेंगी। मगर, यह सब बिना तीव्र वैराग्यके सम्भव नहीं।

प्रश्न : वेदान्तमें उपासनाका क्या स्वरूप है एवं उसकी क्या उपयोगिता है?

उत्तर : उपासना मनको शासनानुसारी बनानेमें है, वासानानुसारी बनानेमें नहीं। इसमें कर्ता गौण हो जाता है और इष्टदेव मुख्य। मुख्य रूपसे उपासनाके स्तर होते हैं—

१. किसी अल्प स्थानमें, अल्पकालमें रहनेवाली, अल्पवस्तुमें भावसे ईश्वरबुद्धि बनाना अज्ञको सर्वज्ञ, परिच्छिन्नको पूर्ण, जड़को चेतन और सान्तको अनन्त मानकर अपनी वृत्तिको ईश्वराकार बनाया जाता है—यह कार्योपासना है। इसके अन्तर्गत मूर्तिपूजा, पतिपूजा, गुरु पूजा सबका समावेश हो जाता है। यह विराट्के एक अवयवमें पूर्णकी भावना है।

२. विशालमें ईश्वरबुद्धि, स्थूल-समष्टि अथवा सूक्ष्म-समष्टिमें विराजमान चैतन्यके रूपमें ईश्वरकी भावना करना। देश-सेवा, विश्व-सेवा, मानव-सेवा, जीव-सेवा सब इसीके अन्तर्गत हैं।

३. देशकी विशालता, कालकी नित्यता और द्रव्यकी बीजरूपता तीनोंको एकमें मिलाकर कारणमें विद्यमान चेतनकी उपासना—ईश्वरोपासना है, यही सम्पूर्ण जीवजगत्में भरपूर है।

४. ऊपर जिन तीनों अवस्थाओंका वर्णन किया गया है। उनका विशेष करके अद्वितीय ब्रह्मके साथ आत्माकी एकताकी भावना ब्रह्मोपासना

है। यह तत् रूपसे, अहं रूपसे और दोनोंकी एकता रूपसे—तीनों प्रकारसे होती है।

अब इनकी उपयोगिताको देखो! इन चारों प्रकारकी उपासनासे अन्तःकरणमें विशेषता उत्पन्न होती है। पहलीसे साकार इष्टमें प्रेम और उसका दर्शन होता है। दूसरीसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होती है। तीसरीसे भगवद्-भावोपत्ति होती है और चौथीसे ब्रह्मज्ञानकी योग्यताका उदय होता है। पति, माता-पिता, गुरुमें शास्त्रने हमारे अन्तःकरणमें एक भगवत्त्व आरोपित किया, लेकिन मोह-ममताके कारण ही हम उसे नहीं समझते—कभी आँख बन्द करके उसकी ओर देखनेका प्रयत्न ही नहीं किया। इसीसे संसारके राग-द्वेषमें फँसे रहते हैं। विक्षेपसे ग्रसित होते रहते हैं। एकाग्रतामें—यह मुश्किल नहीं। लेकिन, संसारमें जो राग-द्वेष है—वह छूटना मुश्किल है। यदि अन्तःकरणमें आरोपित भगवदाकारमें हमारी आसक्ति और श्रद्धा हो गयी तो सारी अन्य आसक्तियाँ छूट जायेंगी, राग-द्वेष मिट जायेगा।

भगवान् शंकराचार्यने तो मानस-पूजा सबकी ही लिखी है। वस्तुतः आकृतिका ही भेद है। मिट्टी-जल आदिका भेद नहीं—परमात्माका भेद नहीं। पूजासे थोड़े ही दिनोंमें समझ आ जायेगी कि यह सब भगवान्‌का है—'तद् विष्णो परमं पदम्'। यदि यह समझ नहीं आती तो पूजामें जड़ता है। परन्तु, उसमें भी घबड़ाना नहीं चाहिए, योग्यताके अनुरूप समझ बढ़ती जायेगी जैसे देखो, एक बालक शालग्रामकी गोली मुँहमें डाल सकता है—उससे खेले या खाय। आर्य समाजीकी बुद्धिमें उसमें सोना है, भक्त उसे साक्षात् चतुर्भुज विष्णुके रूपमें देखता है और ब्रह्मज्ञकी अभिन्ननिमित्तोपादानकारणसे उसमें ब्रह्मबुद्धि है। बाबा तो कहा करते थे, यह भाव करो कि शालग्राम में नहीं, शालग्राम स्वयं ब्रह्म है। तो, परिवर्तन बुद्धिमें है और गोली ज्यों-की-त्यों! बस, बुद्धि बदल गयी तो उपासना सफल हो गयी। आजकलके वेदान्ती लोग सीढ़ीका सहारा लिये बिना ही छत पर चढ़नेकी कोशिश करते हैं और धड़ामसे गिरते हैं।

प्रश्न : आदि शंकराचार्यजी पूर्ण वेदान्त-निष्ठ थे, फिर भी उन्होंने अलगसे शक्तिकी उपासना क्यों की? उनकी शक्तिकी उपासना वेदान्त-निष्ठ है या साम्प्रदायिक? कृपया जिज्ञासाका समाधान करें।

उत्तर : देखो भई, प्रश्न तो तुम्हारा बहुत अच्छा है। असलमें, भगवान् श्रीशंकराचार्य सर्वथा अद्वैत-निष्ठ थे। लेकिन, उनके पास बहुतसे साधारण-बुद्धिके लोग भी आया करते थे और वे आत्मा ब्रह्म है—इस अद्वैत-तत्त्वको नहीं ग्रहण कर पाते थे। तो, उनसे उपासना करवाके, बारम्बार इष्टदेवका चिन्तन करवाके, उनके अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए तरह-तरहके रूप बताया करते थे। उन रूपोंमें कोई फर्क नहीं है—जो राम है सो ही कृष्ण है, सो ही देवी है, सो ही शिव है—परन्तु एक रूपमें मन लगानेसे चित्तका चंचल होना कम होता है, वासनाओंका उठना कम होता है और वह मनुष्य अद्वैत-तत्त्वके ग्रहण करनेके योग्य हो जाता है।

दूसरी बात देखो—नाम और रूपके भेदसे तत्त्वका भेद नहीं होता। कुण्डल और कड़ा और हारके भेदसे सोनामें भेद नहीं होता। इनके लिए तो आकाशमें अलग-अलग बननेकी जगह भी है, शकल-सूरत भी बन सकती है, परन्तु अद्वैत परमात्माके लिए तो ऐसी जगह ही नहीं है। इसलिए अधिकारियोंके भेदसे भगवान् शंकराचार्यने उपासनाके भेद बताये। उसमें एक ही ब्रह्मकी उपासना है, अनेक ब्रह्मकी उपासना कहीं नहीं है, सर्वत्र एक ही है! यदि आप पढ़ते हों—सैकड़ों स्तोत्र शंकराचार्यके बनाए हुए हैं—अन्तमें सब देवता ब्रह्म ही है यही वर्णन आता है, दूसरा कोई है—ऐसा वर्णन नहीं आता है! आप—

ते तु मामेव कौन्तेय यजन्तेऽविधिपूर्वकम्।

वे पहचानते नहीं है, पूजा तो भगवान्की ही करते हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजने दोनों हाथसे बालू उठायी और बोले—'शन्तनु देख, जब तक यह बालू साक्षात् परब्रह्म परमात्मा न मालूम पड़ने लगे तब तक समझना कि ब्रह्मका ज्ञान अधूरा है--आधा ब्रह्म है, आधा नहीं है! वे तो बालू पर बालू

उठाकर चढ़ाने लगे, बालू की एक ढेरी बना दी और उसपर बालू लेकर चढ़ाने लगे। देखो, ब्रह्म पर ब्रह्म। चढ़नेवाला भी ब्रह्म, चढ़ानेवाला भी ब्रह्म। ब्रह्मपर ब्रह्म। यह जो हमलोग आपसमें भेद करते है—शिवका, विष्णुका, रामका, कृष्णका—यह अपनी निष्ठा बढ़ानेके लिए ठीक है कि अपना प्रेम बढ़े, निष्ठा बढ़े, वैसे है सबका सब एक ही! सोनेके एक पत्तर पर एक मन्दिर बनाया जाय और उसमें एक शंकरजीकी मूर्ति बनायी जाय और उसीमें एक पनालेका छेद बनाया जाय और वहाँसे निर्माल्यका जल निकले—ऐसा मालूम पड़े कि वह निर्माल्यका जल भी सोना ही है, वह शंकरजी भी सोना है, वह मन्दिर भी सोना है—असलमें यह सब-का-सब एक ही तत्त्व है, दूसरा तत्त्व है नहीं। इसलिए, बिल्कुल न गड़बड़ाकर-अपने इष्टदेवको कभी बदलना नहीं चाहिए, वही इष्ट है। अपने मन्त्रको कभी बदलना नहीं चाहिए, वही मन्त्र है। कोई आकर कहे कि तुम अपना मन्त्र छोड़ दो और हम बताते हैं वह मन्त्र जपो तो जल्दी भगवान् मिल जायेंगे, तो समझ लो—बस, वह तुमको चेला बनाना चाहता है, स्वार्थी है। एक ही परमात्मा सबमें है। कहीं भी—आप तुलसीके पौधेमें, पीपलके पेड़में, बेलके पेड़में, कहीं भी—एक पत्थरके टुकड़ेमें—कहीं भी आप परमेश्वरकी आराधना कीजिए, सर्वत्र परमेश्वर ही है और उसीकी उपासना होती है। आप जान-बूझकर कीजिए कि हाँ, यह परमेश्वर है—आपकी आराधना होगी। यह तो भगवान् शंकराचार्यकी महती कृपा ही मानी जायेगी जो उन्होंने स्वयं अद्वैत-निष्ठ होने पर भी भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिए विभिन्न उपासना स्तोत्रोंकी रचना की।

प्रश्न :—महाराजश्री, विचारशीलोंमें मतभेद क्यों?

उत्तर :—क्योंकि वे विचारशील हैं। यदि विचारशीलोंमें मतभेद नहीं होता तो कोई दुनियामें विचारशील होता ही नहीं? जब पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों ओरसे बात सोची जाती है तब उसमेंसे नई-नई बातें, नये-नये विचार निकलते हैं और यदि सबलोग एक ही बात मानने लग जायँ तो सब-के-सब पत्थरकी तरह जो जाय, वे तो किसी कामके रहेंगे ही नहीं, जड़ता हो

जाएगी सृष्टिमें! इसलिए, बुद्धि जाग्रत् रहे, नये-नये विचार उदय हों—यह तो आवश्यक है। यह बात है कि अपनी जो निष्ठा है उसके समर्थनके लिए विचारोंका उदय होना चाहिए। दूसरेके, दूसरे विषयके विचारोंके समर्थनके लिए विचारोंका उदय नहीं होना चाहिए! ऐसा नहीं कि शराब पीकरके बहस करनेके लिए गये तो मुद्दईकी ओरसे बहस कर दी और जब मालूम हुआ कि नहीं, बहस तो मुद्दालयकी ओरसे करनी है तो बोले कि नहीं उस समय तो मैंने उनकी ओरसे जो कहना था सो कहा, अब मैं अपनी ओरसे बोलता हूँ! ऐसा हुआ है—यह सच्ची घटना है! इसलिए, बहुत सावधान होकर सब काम करना चाहिए! सबमें परमात्मा है इसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है नहीं।

प्रश्न :-सत्यसे रुचिका क्या सम्बन्ध?

उत्तर :— यदि एक आदमी चार बार तुम्हें असत्य बोलते पकड़ लेगा तो तुम उसके अविश्वसनीय हो जावोगे, कभी वह तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं करेगा। इसलिए, संसारके व्यवहारमें विश्वसनीय बने रहनेके लिए विश्वासकी आवश्यकता है। नहीं तो वह व्यवहारमें भी कभी सफल नहीं होगा।

अब रही बात यह कि यदि तुम अपनेको विश्वसनीय बनावोगे तो व्यवहारमें सफलता मिलेगी और नहीं बनावोगे तो विफलता मिलेगी। और यह विश्वसनीयता तभी प्राप्त होगी जब तुम सत्यके प्रेमी होओगे एक और बात ध्यानमें रखो कि जो सत्यका प्रेमी होगा, जो गला कटा कर भी सत्यकी रक्षा करना चाहेगा, उसको सत्य परमात्माकी प्राप्ति होगी। क्योंकि उसको जबतक सत्यकी प्राप्ति नहीं होगी तब तक सन्तोष होगा ही नहीं। और जिसको असत्यमें ही सन्तोष हो जाता है, उसको सत्यकी प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।

जो सत्यसे प्रेम करेगा उसको सत्य मिलेगा और जो सत्यकी उपेक्षा करेगा उसको कभी सत्यकी प्राप्ति नहीं होगी।

प्रश्न :–आत्मज्ञानके पूर्व हमको क्या साधन करने चाहिए?

उत्तर :—एक ही साधन है वह यह कि प्रमाद न करें!!

यदा अप्रमत्तो भवति तदा योगः संपद्यते।

और,

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन।

ब्रह्मनिष्ठा संपादन करनेमें प्रमाद नहीं करना चाहिए। माने-किसी भी परिच्छिन्न भावमें—प्रतीतिमें अपनेको कहीं तुम ब्राह्मण, संन्यासी, मनुष्य, प्राणी, कर्ता-भोक्ता, संसारी जीव मानकर मत बैठ जाओ, यही अप्रमाद है। जो वस्तु ज्ञानका विषय हो रही है, उसे तुम मैं मत मानो, यही अप्रमाद है।

प्रमादम् वै मृत्युमहं ब्रवीमि।

प्रमाद माने मृत्यु-ज्ञानकी विकृति, आनन्दकी विकृति, सत्ताकी विकृति। अपने स्वरूपमें जो सत्ता जन्म-मरणवाली मालूम पड़ती है कि मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ, इसका नाम प्रमाद है। 'मैं ज्ञानी, मैं अज्ञानी'—ऐसा अपनी चित्-सत्तामें मालूम पड़ना प्रमाद है। 'मैं सुखी-दुःखी'—ऐसा अपने आनन्दस्वरूपमें मालूम पड़ना प्रमाद है। जिसे अपने ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसे मैं ज्ञानी, अज्ञानी, सुखी-दुःखी, जन्मने-मरनेवाला, परिच्छिन्न-ऐसे प्रतीयमान पदार्थमें अहंपनेकी भ्रांति नहीं होती। इसीका नाम अप्रमाद है। जो अप्रमत्त है, उसको किसी भी पदार्थका अभिमान छू नहीं जाता। वह मतवाला होकर किसीका तिरस्कार नहीं करता, क्योंकि सब उसकी आत्मा हैं।

योगदशायां संजातायाम् अप्रमत्तो भवति,
अप्रमत्तो योगी भवति, योगी अप्रमत्तो भवति।

हमारे एक महात्मा थे, वे कहते थे, 'सावधान रहना ही साधना है' आँख खुली रखें कि बन्द, सोवें कि बैठें, बोलें कि मौन रहें—यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न है—सावधानता है कि नहीं? सामान्य मनुष्य समझता है कि भूल होना गलती नहीं है, परन्तु भूल होना ही असलमें गलती है।

हमारे जीवनमें सत्यकी ओरसे प्रमाद आ गया है कि सत्य चाहे कुछ भी हो, वह हमें रोटी-कपड़ा थोड़े ही देगा? इस प्रमादका बड़ा भारी फल दुःख हमें भोगना पड़ता है। दिन भरमें हम कितनी बार दुखी होते हैं, संसारमें राग-द्वेष करके फँसते हैं? क्यों? केवल प्रमादके कारण अपनी सुन्दरताकी ओर से प्रमाद होता है, दूसरा सुन्दर मालूम पड़ता है! अपनी अपनी स्वच्छता, असंगता, व्यापकता, परिपूर्णता, अविनाशिता भूल जाती है और संसार सच्चा मालूम पड़ता है। और, प्रमाद करोगे तो तुम्हारी एकाग्रता, बुद्धिकी सूक्ष्मता, परमात्माकी प्राप्तिकी योग्यताका लोप हो जायेगा। श्रुति कहती है—सावधान बेटा! प्रमाद नहीं करना चाहिए।'

नावसरं किंचित् कामादिनाम् मनागपि।
आसुप्तेरामृते कालं न चेद् वेदान्तचिन्तया॥

सो न जायँ तबतक रोज-रोज और मर न जायँ तबतक जीवन-भर, जबतक अपने स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान न हो जाय, वेदान्त-चिन्तनमें ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। कामना, क्रोध-लोभ-मोहको मौका ही न दें—

'भरी सराय रहीम लखी आप पथिक फिर जाय।'

प्रश्न :—अपना दर्शन कैसे होगा?

उत्तर :—पूछनेवालेका अभिप्राय क्या है? प्रत्येक प्रश्न किसी-न-किसी नासमझीसे उठता है, पूरी समझदारी होगी तो भी प्रश्न नहीं उठेगा और पूरी नासमझी होगी तो भी प्रश्न नहीं उठेगा। जब समझदारी और नासमझी दोनोंकी खिचड़ी हो जाती है तब प्रश्न उठता है। यदि प्रश्न ईमानदारीसे किया गया है और बिलकुल अज्ञान है तो क्या पूछेंगे? जिसे न देखा, न सुना, न जाना, जिसके रंग-रूपका पता नहीं और जिसका रोम-रोम पहचान लिया, देख लिया, जान लिया, सुन लिया—उसके बारेमें क्या पूछेंगे? तो, सामान्य रूपसे ज्ञान और विशेष रूपसे अज्ञान होने पर ही प्रश्न उठता है।

एकने पूछा, 'यह कौन है?'

'यह मनुष्य है'

ऐसा जवाब देनेवाला बेवकूफ है, क्योंकि सामान्य रूपसे तो हम उसे देख रहे हैं, जान रहे हैं कि यह मनुष्य है, विशेष रूपसे उसको जाननेकी इच्छासे ही पूछ रहे हैं—उसका नाम, गाँव, जाति, विद्या आदि। प्रश्न होता है तब मालूम होता है कि पूछनेवालेका क्या अभिप्राय है? जो खण्डन करनेके लिए पूछता है, वह पूछता नहीं है, आक्षेप करना और प्रश्न करना एक बात नहीं है, आक्षेप करनेवाला जिज्ञासु नहीं है! इसलिए उससे तो हम बात ही नहीं करते! उसको तो हम कहेंगे कि तुम किसी काशीके पंडितके पास जाओ! तुम खण्डन करो, वह मण्डन करे! विद्वान्के पास जाकर आक्षेप मत करो! अपनेको तौल लो! तुम क्या पूछना-जानना चाहते हो?

तुम क्या आत्माको विषय बनाकर पूछना चाहते हो कि आत्माका दर्शन आँख आदि इन्द्रियोंसे कैसे होगा? कोई भी इन्द्रिय पूर्णताका दर्शन नहीं करा सकती। कोई अनुमान, उपमान, ध्यान, समाधि भी पूर्णताका दर्शन नहीं करा सकती। परिच्छिन्न औजारसे अपरिच्छिन्नका दर्शन कैसे होगा? इन औजारोंको अलग कर दो, पहले जान लो कि किस-किस औजारसे अनन्त-अद्वय आत्माका, ब्रह्मका दर्शन होगा? जो साधन इसमें उपयोगी हो उसे धारण करो, यह नेति-नेति अपवाद है।

परिच्छिन्न-विषयग्राहिणी इन्द्रियोंको, संकल्पात्मक मनको और सोती हुई तथा जागती हुई बुद्धिको अलग करो,अपवाद करना माने अपने आत्मा रूप अनन्तका दर्शन करनेमें जो जो परिच्छिन्न विषयको दिखलाने वाले औजार हैं—वे अनुपयोगी हैं। ऐसा जानना और यह जानकर उनका परित्याग करना अनन्तअन्तःकरणके ध्यानका विषय नहीं है, उसे अलग कर दो, उससे अपने अहंको उठाओ। जब तुम अपने अहंको अन्तःकरणसे अलग करोगे, तब देश-काल और अन्तःकरणकी व्यक्त दशारो अपनेको अलग कर लोगे, तुम तो वह चैतन्य हो जिसमें देश-काल-वस्तुकी दाल गलती ही नहीं अब

तुम अपनी असंगत दृष्टिसे जरा दूसरेकी ओर देखो तो! अखण्डमें कहाँ, कब, क्या ऐसी वस्तु आकर भीतर जम गयी है! आत्माके बाहर-भीतर, आगे-पीछे, पहले-बाद विश्व होनेकी कल्पना गलत है, आत्माके अतिरिक्त विश्व है, यह भी गलत है, जब बाहर, पीछे, बादमें नहीं तो अतिरिक्त कैसे? चैतन्यघन ठसाठस है, उसमें अन्यके लिए जगह नहीं तो द्वैत कहाँसे रहेगा? इसलिए, सर्वप्रथम यह प्रश्न है कि यदि तुम आत्माको विषयके रूपमें जानना चाहते हो तो तुम अपनेको अन्यके रूपमें देखना चाहते हो! यही गलती है। तुम औजार-रहित, देश-काल-वस्तु रहित हो तो तुम्हारी अनन्तता—अद्वितीयतामें यह प्रपंच कहाँ है?

'न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्'—(कठो०)

शब्दाभावात् श्रोत्रेण न श्रूयते।
रूपाभावात् चक्षुषा न दृश्यते।
स्पर्शाभावात् त्वचया न स्पृशते।
रसाभावात् रसनया न रस्यते।

यह शब्द नहीं है, इसलिए कान द्वारा सुना नहीं जाता। यह रूप नहीं है, इसलिए आँख द्वारा देखा नहीं जाता। यह स्पर्श नहीं है, इसलिए त्वचा द्वारा छुआ नहीं जाता। यह रसरूप नहीं है इसलिए रसना द्वारा इसका स्वाद नहीं लिया जाता और गन्ध नहीं है, इसलिए नाक द्वारा सूँघा नहीं जाता।

वेदान्ती तो कहता है : 'किसी भी प्रमाणसे वहाँ नहीं देख सकते जहाँ भूलसे नित्य प्राप्त वस्तु ही अप्राप्त मालूम पड़ती हो!'

जैसे आत्माकी सारी दूसरी चीजें अपने लिए—चैतन्यके लिए होती हैं, वैसे इस आत्माका रूप किसी दूसरेके लिए नहीं है। कोई द्रष्टा इसे देखकर रतितृप्ति, संतोषका अनुभव करे-ऐसा इसका अनुभव नहीं है। यह किसीका भोग्य, दृश्य या कर्म बन जाय—ऐसा इसका रूप नहीं है। सत्तामें भेद न होनेसे कर्म नहीं होगा, चित्तामें भेद न होनेसे दृश्य नहीं होगा और आनन्दमें भेद न होनेसे भोग्य ही नहीं है तो वह भोग किसका करे? वह द्रष्टा-चित्त तो है,

परन्तु इसके सिवा कोई दृश्य ही नहीं है तो वह देखे किसको? वह सत्ता तो है परन्तु, इसमें कोई परिणाम या परिवर्तन ही नहीं है तो इसका कर्म कौन होवे? किसीके लिए प्रयोजनीय इसका रूप नहीं है। माने स्वयं वेद्य नहीं है, स्वयं वेद्यता भी इसमें कल्पित है और साक्षी भास्यता भी इसमें नहीं है, एक बार इसको पहचान लो।

देखो, दृश्यमें सृष्टि परिच्छिन्न है, यदि उसमें तुम आत्माको पकड़ना चाहोगे तो एक बात यह मालूम पड़ेगी कि तुम इन्द्रियवाले हो, दूसरी यह बात मालूम पड़ेगी कि तुम इन्द्रियों द्वारा ज्ञाता हो, तीसरी बात यह मालूम पड़ेगी कि तुम परिच्छिन्न हो, अपूर्ण हो और तुम जब अपूर्ण हो करके हृदयमें बैठोगे तो इन्द्रियों द्वारा इसे ग्रहण कर सकोगे? इसका दर्शन तो अपरिच्छिन्नका दर्शन है, तुम परिच्छिन्नको स्वीकार करके अपरिच्छिन्नको नहीं देख सकते। न यह स्वयं परिच्छिन्न है, न परिच्छिन्न इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य है, न परिच्छिन्न द्रष्टा ही इसको ग्रहण कर सकता है। अतः यदि तुम्हें अपनेमें परिच्छिन्नता मालूम पड़ती हो तो उसे दृश्य बना दो, तुम उससे न्यारे हो, परिच्छिन्नता जिसका दृश्य है वह द्रष्टा परिच्छिन्न नहीं होगा, वह परिच्छिन्न नहीं होगा तो अपरिच्छिन्न होगा! अपरिच्छिन्न होगा तो ब्रह्म होगा, क्योंकि परिच्छिन्नता साक्षीभास्य है चाहे वह आनन्दकी, दृश्यकी, कर्मकी परिच्छिन्नता क्यों न हो!!

इसलिए आत्मा न कर्म परिच्छेद्य है। न दृश्यपरिच्छेद्य, न भोग परिच्छेद्य, सम्पूर्ण परिच्छेदोंका निषेध कर देनेके बाद जो शेष रह जाता है वह तुम्हारा अपना-आपा है और उसका नाम ब्रह्म है। आत्मा और ब्रह्म दो शब्द हैं, नाम दो हैं। वस्तु एक है, जैसे बच्चेको आकाश मालूम नहीं है, उसे मौजूद आकाश दिखाना हो तो बताना पड़ेगा कि जिसमें रोशनी फैलती है, अन्धेरा फैलता है, आवाज फैलती हैं, हवा घूमती है, इन सबका आकाश आधार है। वेदान्त यही बताता है कि जिसको तुम अपनी इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते, अन्तःकरणसे नहीं जान सकते, स्वयं अपनेसे अन्य सुषुप्तिकी शान्तिकी तरह

साक्षी भास्य रूपमें नहीं जान सकते, वह तुम्हें वेदान्त 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यसे बताता है।

प्रश्न :–संगदोषसे कैसे बचें? कृपया मार्गदर्शन करें!

उत्तर :—सम्बन्ध सब काल्पनिक हैं। संस्कृतमें संग माने है 'आसक्ति'। आसक्ति एक भ्रांति है—अविद्याजन्य है, इसीलिए ऐसा कहा, 'निर्मानमोहा जितसंगदोषा, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ' तुमने कल्पना ही अज्ञानसे कर ली है कि तुम्हारी किसीसे आसक्ति है। जहाँ आसक्ति होगी वहाँ कपट नहीं होना चाहिए, किन्तु कोई भी सम्बन्ध ऐसा नहीं है, जहाँ तुम कुछ छुपाते न हो, निष्पकपट होकर, हृदय खोलकर तुमने किसीसे सब कुछ बताया है? यदि कुछ-न-कुछ छुपाया ही है तो आसक्ति कहाँ? हमारी आसक्ति सिर्फ अपने-आपसे होती है। जब अपनेको तत्त्वतः जान लेते हैं, तब यह भ्रांति मिट जाती है और हम निष्काम हो जाते हैं,

जब तत्त्वज्ञानसे हमें अपने असंग स्वरूपका बोध होता है, तब किसी वस्तुका प्रयोजन नहीं रहता। उसके पहले तो असंगता भी काल्पनिक है,

'**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**'—में यही कहा है। यहाँ जो '**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः**'में 'निराहार' शब्द है, उसके लिए भगवान् शंकराचार्यने 'भाष्य'में लिखा है कि कानोंसे जो हम मधुर शब्द सुनते हैं, वह भी आहार है। प्रत्येक इन्द्रियसे जो भी कुछ हम ग्रहण करते हैं—वह सब आहार है। समाधिमें हम निराहार होकर बैठ भी जायँ, पर व्युत्थान होने पर यदि ज्ञान नहीं हुआ तो पुनः विषय लौट आयेंगे। '**परं दृष्ट्वा**' माने '**आत्मनि दृष्ट्वा**'। तत्त्व-दृष्टि होने पर उनकी प्रयोजनता ही नष्ट हो जायेगी। जब मनमें उनके लिए कामना नहीं होती, तब उन-उन वस्तुओंका बाध हो जाता है, जबतक मनमें कामना है, तब तक निष्कामता कैसी? जबतक प्रयोजन है, कामना है, जैसे-जैसे असंग स्वरूपमें अवस्थिति होती जायेगी, वैसे-वैसे दुनियाका बाध होता जायेगा। मगर, यह बात संसारी वेदान्तियोंको जल्दी समझमें आने वाली नहीं है। जबतक स्वयंको हम साकार-परिच्छिन्न रखते हैं,

तबतक हमें सगुण-साकार ब्रह्मकी आवश्यकता है, जब हमारा देहाभिमान छूट जाय, तब ब्रह्म भी निराकार!!

देहात्मधी स्वात्मनि यावदस्ति। साकारधी ब्रह्मणि तावदस्ति॥

वस्तुतः पुरुष तो असंग ही है '**असंगो ह्ययं पुरुषः**'।

प्रश्न :-चिज्जड़-ग्रन्थिका स्वरूप क्या है? इस ग्रन्थिका भेदन कैसे हो? कृपया समझावें।

उत्तर :—हमने अपनेको देह समझ रखा है। हम तो हैं चेतन और देह है जड़। भ्रमवश इन दोनोंको मिलानेसे एक ऐसी गाँठ पड़ गयी है कि न होने पर भी बहुत बड़ी लगती है—

जड़ चेतन ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

इसीको भगवान् शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रके प्रारम्भमें 'अध्यास' कहा है। यह चिज्जड़-ग्रन्थि ही है। इसको ऐसे समझो कि—

आत्मा चेतन है, अविकारी है और शरीर जड़ है, विकारी है; आत्मा नित्य है तो शरीर अनित्य है। आत्मा परम प्रेमास्पद सुख स्वरूप है और देह रोग, शोक आदिसे परिपूर्ण है। हम अपनी स्वरूपभूत नित्यता, सुखरूपताको देहमें डाल देते हैं और देहकी अनित्यता, जड़ता, दुःख-रूपताको अपनेमें आरोपित करते हैं। संस्कृत भाषामें इसका नाम हो जाता है 'अध्यास' '**अतस्मिंस्तद्बुद्धिः**।' जो 'मैं' नहीं हूँ, उसको 'मैं' समझता हूँ और जो 'मैं' नहीं है, उसको 'मैं' समझता हूँ।

प्राणेन्द्रिय – मनोधर्मानात्मान्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते कामलवान् ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत्॥

(भागवत ४.२९.२५)

प्राणका धर्म है—अशना या पिपासा माने भूख-प्यास और इन्द्रियोंका धर्म है—संसारके विषयोंका ज्ञान और उनकी प्राप्तिके लिए कर्म। रास्ता बतानेवाली ज्ञानेन्द्रिय अनेक हैं और कर्म करनेवाली कर्मेन्द्रिय भी अनेक हैं, लेकिन आत्मा एक है और यह एक आत्मा जब अनेकके साथ अपनेको

मिला देता है तब उसका नाम होता है 'अध्यास'। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्त:करण सब जड़ हैं, इसके द्वारा मालूम पड़नेवाले विषय भी जड़ हैं और स्वप्रकाश चेतन अपना आत्मस्वरूप है। तो, जब हम देहके साथ तादात्म्य कर लेते हैं कि मैं काला हूँ, गोरा हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ—यह सब देहमें जो आरोपित हैं, उनको जब हम अपना-आपा समझने लगते हैं, अपनेको भूखा-प्यासा समझने लगते हैं, तब हम अपने एक रस आत्माको देहके साथ मिला देते हैं। हम दु:खी हैं, ज्ञानी हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं—ऐसा अभिमान करने लगते हैं। यही चेतन और जड़की गाँठ है।

यावद् देहेन्द्रिय - प्राणैरात्मनः संनिकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावद् पार्थोऽप्यविवेकिनः॥ ११.२८.१२

श्रीमद्भागवतका कहना है कि जब तक मनुष्य देहको 'मैं' समझता है, इन्द्रियोंको 'मैं' समझता है, जबतक 'मैं' और 'मेरा' का संनिकर्ष बना रहेगा; तबतक संसार सच्चा लगेगा। संसार माने ईंट-पत्थर, पहाड़, जंगल नहीं, भक्त लोग कहते हैं, '**अहंता-ममतालक्षणः संसारः**'। इस 'देह'को मैं समझना या मेरा समझना या इसके सम्बन्धियोंको मेरा समझना, धनको मेरा समझना, मकानको मेरा समझना, परिवारको मेरा समझना ही 'संसार' है। संस्कृतमें 'परिवार' शब्दका अर्थ है—घेराव करनेवाले। अतः घेराव करनेवालोंको मेरा समझना—इसका नाम संसार है और यह शरीर 'मैं' है, ब्राह्मण मैं है, संन्यासी मैं है, विद्वान् मैं है, समाधिमान् मैं है और विशेषवान् मैं है—जबतक यह 'वान्, वान्' लगा रहेगा, संसार लगा रहेगा।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं, '**कर्तृत्व-भोक्तृत्वलक्षणः संसारः**' अपने मनमें जो कर्ता-भोक्तापनका अभिमान है—उसका नाम संसार है। तो, जबतक कर्ता है, तबतक पाप-पुण्य है और जबतक भोक्ता है, तबतक नरक-स्वर्ग, सुख-दु:ख है। कर्ता-भोक्ताका ही राग-द्वेष होता है। अतः अपनेको कर्त्ता-भोक्तासे और परिच्छिन्न ज्ञातासे एक कर देना—परिच्छिन्न ज्ञाता माने

इन्द्रियोपाधिक जो ज्ञाता है, उसके धर्मको अपनेमें आरोपित कर लेना—यह अर्थ नहीं है; केवल प्रतीति है, वस्तु नहीं है, और यही चिज्जड़-ग्रन्थि है। वह जो विवेक नहीं करता, विचारवान् नहीं है—उसके लिए यह सच्ची है, मगर इस ग्रन्थिका छूटना भी बड़ा ही कठिन है; क्योंकि इसके अनेक रूप होते हैं एक होती है, 'कामग्रन्थि', यह ब्रह्मामें भी होती है। काम-ग्रन्थिसे ही वे सृष्टिको उत्पन्न करते हैं एक होती है, 'लोभ ग्रन्थि', विष्णुमें भी यह होती है, कौस्तुभमणि आदि रखते हैं और एक क्रोध-ग्रन्थि है—यह रुद्रमें भी होती है—वे संहार करते हैं। एक अविद्या-ग्रन्थि है—यही अध्यास है। गोस्वामी तुलसीदास जीने कहा कि—

श्रुति पुराण बहु कह्यो उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

जो इस वृत्तिको सच्ची मानकर छोड़नेका प्रयास करेगा—उसकी छूटेगी नहीं, क्योंकि यदि ग्रन्थि हो तो वह कर्मसे भी खुल सकती है। यदि ग्रन्थि सच्ची हो तो उपासनासे प्रसन्न ईश्वर उसे खोल सकते हैं। योगाभ्याससे भी उसे सड़ाया-गलाया जा सकता है। मगर वह तो है ही नहीं—केवल मालूम पड़ती है। इसलिए, तत्त्वज्ञानके सिवाय-अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपके बोधके बिना, इस ग्रन्थिका भेदन नहीं हो सकता है। और, स्वरूपका जो बोध है—वह न तो इन्द्रियोंसे होगा, क्योंकि स्वरूपमें दृश्यता है ही नहीं। जितना भी कर्म, उपासना, योग, युक्ति-प्रयुक्ति लगेगी—वह दृश्यमें लगेगी। बुद्धि भी संस्कार युक्त वेश्याके समान है। इस बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिमें बुद्धि अलग-अलग होती है, क्यों होती है? संस्कार सहकृत अविद्याके कारण बुद्धिमें पार्थक्य होता है। अतः अपनी बुद्धिके निश्चयको, मनके वांछनीयको और इन्द्रियके प्रियको—कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

एक बात और ध्यान देनेकी है कि जो लोग आकारका तो बाध कर लेते हैं और संस्कारका बाध नहीं होता—असलमें उनका अविद्यालेश बना रहता है। विद्याकी आग तो संस्कारको भी भस्म कर देती है। जीवन्मुक्त

महापुरुषके शरीरमें रंगीन संस्कार नहीं होते, भस्म हो जाते हैं और जिनका अविद्यालेश बना रहता है वे संस्कारका बाध न होनेके कारण लोगोंको कष्ट देते रहते हैं। असलमें, आकारके कारणके रूपमें और संस्कारसे लिप्तके रूपमें जो हम तत्त्वको समझते हैं—ये दोनों ही अविद्या हैं और सच पूछो तो अपने स्वरूपकी निर्विशेषताके ज्ञानसे इस अविद्याका ध्वंस नहीं होता है! तब क्या होता है? वस्तुतः अविद्या न थी, न है और न होगी। अपने स्वरूपके बोधसे नित्य-निवृत्त अविद्याकी ही निवृत्ति होती है। और नित्य-प्राप्त आत्माका ही साक्षात्कार होता है, न तो अप्राप्तकी प्राप्ति होती है और न तो प्राप्तकी निवृत्ति होती है, अविद्या प्राप्त है और उसकी निवृत्ति होती हो—सो बात नहीं है, केवल अज्ञानसे ही संसारकी प्राप्ति और आत्माकी अप्राप्ति प्रतीत हो रही है। अज्ञानकी निवृत्तिसे ही यह प्रतीति निवृत्त हो जाती है। अतः—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

जो सबसे परे है, उस परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाने पर चिज्जड़-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है।

प्रश्न :—महाराजश्री, ब्रह्मानुभूति होनेमें बाधा क्यों है?

उत्तर :—असलमें मनुष्यके हृदयमें रामकी जगह काम बैठ गया है और वह अपनेको रामकी जगह काम ही जानने लग गया! जीवनमें जितनी गति होती है, हम जो-जो करते और बोलते हैं, जहाँ-जहाँ चलते-फिरते हैं—वह राम चलाता है कि काम? महाभारतमें 'मंकीगीता'में तो ऐसे कहा है—

अकामस्य क्रिया काचित् विद्यते नेह कर्हिचित्।
यत् यत् हि कुरुते जन्तुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥

निष्काममें क्रिया न होनेसे मनुष्यके जीवनमें जितनी क्रियाएँ होती हैं वह भीतर बैठा हुआ काम ही करता है और विक्रिया भी कामसे ही होती

है। यह फूल उठा लिया तो क्रिया हो गयी! हाथ चलाया तो क्रिया हुई, परन्तु यह हाथ जवानसे बूढ़ा हो रहा है सो हम नहीं करते, काम करता है। यह विक्रिया है। कई ऐसी क्रियाएँ हैं जो एक हाथसे पूरी नहीं होतीं तो व्यक्ति दूसरा हाथ लगाता है, एक हाथसे दूसरा हाथ बननेकी प्रक्रियाको विक्रिया कहते हैं।

दूसरे हाथके आनेमें रुकावट कौन डाल रहा है? काम! वासनाके रथ पर सवार 'मैं' का नाम काम है और वासनाके रथपरसे उतरे 'मैं' का नाम राम है। है तो मैं ही! जब परिच्छिन्न हुआ तो एक वासना पर बैठ गया और फिर वासनाओंका तांता ही लग गया। एक मोटरसे काम कहाँ चलता है? जिनके घरमें एक ही आदमी है, उनके पास भी कई मोटरें हैं—एक मँगनी के लिए, एक नौकरके लिए, एक-दो अपने लिए। तुम एक वासना पर बैठे रह सकते हो? नहीं, नयी-नयी वासना चाहिए—कभी रूप, कभी रस।

मनुष्य अपने ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानसे पंचभूतके पुतलेको 'मैं' मानकर सुखी-दुःखी होता है। पापी-पुण्यात्मा और कर्ता-भोक्ता बनता है—जन्म-मरणवाला बनकर आता जाता है। यदि उसे अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो जाय तो वह अमृत हो जाय। बल्कि, '**अथ मर्त्योऽमृतो भवति**'—अभी तुम ब्रह्म हो,

अप्येयन् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतम् व्रजेत्?

यदि अपने घरके कोनेमें ही शहद मिल जाय तो उसके लिए पहाड़ पर चढ़कर शहदका छत्ता तोड़नेकी तकलीफ क्यों उठाना? असलमें तुममें पहाड़ देखनेकी वासना है। शहद तो जो वहाँ मिलता है, वह यहाँ भी मिलता है, घरवाली शहद बचाये रखनेकी वासना है, अपने घरमें रखा रुपया तो खर्च नहीं करना है और दूसरेके घरसे उधार लेने जाते हैं, तब मनमें कुछ-न-कुछ लोभ जरूर है।

हमारा तुमसे प्रश्न है कि तुम अपनेको नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-ब्रह्म जाननेमें क्यों हिचकिचाते हो? मनमें क्या दुविधा है? यदि प्रमाणमें शंका है

तो उपनिषद्-विचार करो और यदि प्रमेयमें शंका हो तो अपने आपमें विचार करो. यदि मुक्तिकी स्वत: सिद्धि और ज्ञानकी साधनामें संशय है तो सत्संग करो। यह कोई वादा या सट्टा नहीं है, इसलिए स्वर्ग-नरकके समान नहीं है। इसमें किसी आदमीकी, वस्तुकी, इन्द्रियकी, वृत्तिकी या स्थितिकी पराधीनता नहीं है। यहीं, इसी जगहमें, इसी शरीरमें, इसी मनोवृत्तिमें, इसी संकल्पमें, इसी रूपमें, इसी क्षणमें तुम ब्रह्मकी प्राप्ति करोगे!

प्रश्न : 'जो स्वयंको अकर्ता मानता है, वह दूसरोंको भी अकर्ता ही मानेगा'— कृपया इस सूत्ररूपी कथनके रहस्य पर प्रकाश डालें।

उत्तर : जो लोग बहुत बरसों तक सत्संग करते हैं और आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें चिन्तन करते हैं वे, आत्मा कर्ता है कि अकर्ता? द्वैत है कि अद्वैत? इन बातोंको सोचते, समझते हैं।

इसको आरम्भमें यों लेना चाहिए—

एक आदमी आलसी है और वह अपनेको अकर्ता समझता है, अब आलसी आदमी काम न करे और अपनेको अकर्ता समझे तो उससे बड़ा भ्रम और कोई नहीं होगा। आलस्य तो तमोगुण है। तमोगुण माने 'अन्धेरा'—जहाँ कुछ सूझता नहीं है। यह हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रका शरीर तामस है और जो आदमी देहमें 'मैं' करके कर्म नहीं करता है, उसमें तीन दोष हैं।

एक तो, उसको कहीं रस नहीं आता है। '**नास्ति रसो यस्य स अरसः। रलयोरभेदः अलसः अलसस्य भावः आलस्यम्**'। जिसको अपने कर्तव्य कर्ममें रसका अनुभव नहीं होता, वह आलसी है। और है वह आलसी; निकम्मा पर, समझता है कि हम तो अकर्ता हैं, साक्षी हैं, द्रष्टा हैं, ब्रह्म हैं। तो, उसने अपना तमोगुण तो दूर नहीं किया अभी, फिर उसे गुणातीत अवस्थाकी प्राप्ति भला कैसे होगी? इसलिए श्रीकृष्णने कहा—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' दोषयुक्त होनेपर भी अपने कर्मको मत त्यागो, निकम्मे मत रहो!

तो, देहके रूपसे अपनेको अकर्ता मानना दोष है। ऐसा अकर्ता अपने-आपमें आत्मतुष्टिका तो अनुभव करता है, परन्तु है वह तमोगुणी।

दूसरी बात, अकर्तामें जो दोष आता है वह यह है कि वह कहता है कि 'मैं तो कर्ता नहीं हूँ, और जो कर्ता होता है वह देह, इन्द्रिय, प्रकृति आदिके द्वारा होता है।' अब चाहे बुरे कर्म हों चाहे निषिद्ध कर्म हों, तब भी वह कहेगा कि मैं तो अकर्ता हूँ और मैंने नहीं किये। यह दुराचारको अपने जीवनमें प्रश्रय देना है।

एकबार, एक जजकी अदालतमें एक चोर उपस्थित किया गया। जब उससे पूछा गया कि तुमने चोरी क्यों की? तो वह बोला—मैं तो कुछ करता नहीं हूँ। स्वभावानुसार सब स्वतः ही हो रहा है—'**स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा**'। भगवान् जो कराते हैं, सो इस जीवनमें होता है; **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।** समस्त कर्म प्रकृतिके गुण करते हैं—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**' बल्कि स्वयं प्रकृति सब कर्म कर रही है—**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।** अतः '**नैव किञ्चित् करोमीति**' '**स्वभावस्तु प्रवर्तते।**' इस तरह दर्जन-के-दर्जन श्लोक बोल दिये कि मैंने चोरी तो की, लेकिन मैं उसका कर्ता नहीं, मैं तो अकर्ता हूँ, जज बेचारा चुप हो गया—यह सही कहता है, शास्त्रोक्त कहता है। अब उसको सजा हुई कि नहीं यह अलग प्रश्न है।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि निषिद्ध-कर्म करनेके लिए हम अपनेको अकर्ता मानते हैं तो वह दूसरोंके साथ धोखा नहीं है, अपने साथ धोखा है। तो, यह अकर्ता भी झूठा अकर्ता है, मिथ्याचार है।

अब देखो, योगाभ्यास करके सम्पूर्ण प्राकृतभावोंका निरोध करके—माने इन्द्रियोंको रोककर—हाथ बन्द, पाँव बन्द, जननेन्द्रिय बन्द, दिल बन्द दिमाग बन्द—जो साक्षीद्रष्टा होकर अकर्ता है, वह भी तत्कालिक है। यावद्काल निरोध है। तावद्काल अकर्तृत्त्व है। वृत्तिके साथ तादात्म्य हो गया और अकर्तृत्व समाप्त। भले ही समाधिके संस्कारसे अधिभूत योगीका मन व्यवहार दशामें भी अपनेको अकर्ता मानता है, वस्तुतः वह अकर्ता नहीं है।

तो, जो अपनेमें अकर्ता मानकर बैठ जाता है—उसमें भी मायामल ही है। 'मैं अकर्ता हूँ'—यह माया है माने अध्यारोप है। कर्मबन्धनसे छुड़ानेके लिए आत्मामें अकर्तापनका अध्यारोप किया गया; लेकिन यह अकर्तृत्व भी वास्तविक नहीं है। इसके लिए अद्वितीयताका बोध होना चाहिए। बहुत लोग ऐसे भी होते हैं जो अपनी छोटी-मोटी स्थितिको ही पूर्ण मान बैठते हैं। कर्णवासमें मैं 'माण्डूक्योपनिषद्' पर प्रवचन कर रहा था। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज वहाँ बैठे थे। एक विरक्त वहाँसे निकले, उन्होंने अपना मुँह दूसरी तरफ कर लिया और बाबाकी ओर नजर न डालकर आगे निकल गये। यह उनके वैराग्यका अपराध था, क्योंकि यदि जीवन्मुक्त भी भगवान्का अपराध करता है तो उसकी आत्मा भले ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो—उसके जीवनमें संसार-वासनाका उदय हो जायेगा।

इसलिए, यह जो साधारण लोग अपनेको अकर्ता मानकर आलस्य करते हैं या बुरे काम करते या राग-द्वेषको चित्तमें स्थान देते हैं या अपने बड़प्पनका अभिमान करते हैं—वे ढोंगी हैं अथवा झूठे अकर्ता हैं। अभिमान चाहे रागका हो चाहे वैराग्यका हो; कर्मका हो चाहे उपासनाका हो—यदि वह अपनेको औरोंसे पृथक् करके रखना चाहता है तो वह अभिमान नाशका हेतु है। इसको ऐसे समझो—यदि हिन्दू अथवा मुसलमान अपनेको मानव नहीं मानता है—अपनी मनुष्यताको छोड़ देता है तो वह मनुष्यका शत्रु है। मानवतासे अनुगत ही सारे धर्म होते हैं। यदि तुम अपनेको दूसरोंसे अलग करके रखते हो तो तुम्हारी भाषा ज्ञानका अनादर करेगी, तुम्हारी पार्टी विश्वका अहित करेगी। ऐसा व्यक्ति यदि अपनेको अकर्ता मानता है तो वह धर्मके लिए, मानवताके लिए, यथार्थ बोधके लिए और अद्वितीयताके बोधके लिए योग्य नहीं हो सकता।

तो, इस अभिमानको परमात्माके सामने समर्पित कर दो, उससे अलग न रखो। क्योंकि, एक बिन्दु जबतक सिन्धुसे अलग है तबतक उसके सूख जानेका डर है। वेदान्तकी भाषामें परिच्छिन्नताके अत्यन्ताभावका जो अधिकरण है उस अपरिच्छिन्नता तत्त्वमें परिच्छिन्नता है ही नहीं। इसलिए

अखण्डमें जो खण्डकी कल्पना है, वह दुःखदायी है। आप अपने कर्तव्यका पालन करो—यह तो ठीक है, परन्तु दूसरेके कर्त्तव्यपालनमें कोई बाधा पहुँचाओ—यह ठीक नहीं है।

अब, अकर्ताके वास्तविक, सच्चे स्वरूप पर विचार करो। इस सम्बन्धमें दो बातोंपर ध्यान रखना पड़ेगा—पहली बात, यह जो अकर्तापनकी मान्यता है—यह विचारपूर्वक है या नहीं? यदि तुम्हारी मान्यता गुफामें रहनेसे या जंगलमें भागनेसे अथवा आँख बन्द करके बैठ जानेसे ही बनी है—तो अविचारमूलक है। व्यवहारको सत्य समझकरके अपनेमें जो अकर्तापनकी भावना करोगे तो बाध्य वस्तुओं अर्थात् नश्वर वस्तुओंमें अभिनिवेश होनेके कारण, उनके नाशके साथ तुम्हें भी नष्ट होना पड़ेगा। इसलिए नश्वर वस्तुओंमें अभिनिवेश न करके, उनमें मशगूल न होकर, तन्मय न होकर उनमें गर्क न हो जाय—इसके लिए स्वरूप-दृष्टिसे अकर्तापन होता है। व्यवहारमें कोई अकर्ता नहीं होता। अतः अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करो। कर्तव्य कर्ममें जो त्रुटि होगी—वह अकर्तापनको भी कायम नहीं रहने देगी। यदि अपने कर्त्तव्यका पालन ठीक रहेगा तभी तुम अकर्ता रह सकोगे।

दूसरी बात यह है कि अकर्तापनका अर्थ है—कर्मके फलसे, पाप-पुण्यसे मुक्त हो जाना। यदि तुम फल चाहते हो तो अकर्ता नहीं हो। यदि तुम कर्मकी पूर्णता चाहते हो तो भी अकर्ता नहीं हो। यदि तुम व्यक्तिगत रूपसे अपनेको अकर्ता समझते हो तो कैसे अकर्ता हो? गीताकी शंकरानन्दी टीकामें यह प्रश्न उठाया हुआ है—'आत्मानं मुक्तं मन्यते अन्यास्तु बद्धं, न स मुक्तः किं तु वाचा मुक्तः।' जो अपनेको मुक्त समझता है—अकर्ता-अभोक्ता समझता है और दूसरोंको कर्ता, भोक्ता समझता है—वह असलमें मुक्त नहीं है, क्योंकि जो आत्मा मुक्त है, वह सबमें एक है। जो शुद्ध है, वह सबमें एक है, और जो यह कहे कि हम तो ज्ञानी, हम तो मुक्त हैं—वह वस्तुतः मुक्त है ही नहीं। उसको अपनी मुक्तिका बोध नहीं

है। वह जबानी जमा-खर्चसे मुक्त है। अकर्ता, अकर्ता, अकर्ताका जप करनेसे कोई मुक्त नहीं हो सकता!

प्रश्न : भगवन्! जितना तुम्हारा शरीर और उसके कर्मोंमें 'मैं'पना है, उतना ही निर्विशेष-तत्त्वमें होना चाहिए, व्यवहार-कालमें यह युक्ति किस प्रकार सम्भव होगी? यह स्पष्ट करनेकी कृपा करें–

उत्तर : पहले, तत्त्व क्या है और उसकी किसी अन्यवस्तुके साथ एकात्मता क्या है—इसका विवेक होना चाहिए। देखो, एक कुत्ता था, जब उसके मालिकको हम मारनेके लिए घूँसा तानते थे तो यदि वह बलवान् होता तब तो हमारे ऊपर कूद पड़ता और यदि कमजोर होता तो कांय-कांय करके पूँछ दबाकर भाग जाता। उस कुत्तेका तादात्म्य किसके साथ था? अपने मालिकके साथ! इसी प्रकार जब हम धन जानेसे, जनका वियोग होनेसे, घरमें आग लगनेसे, शरीरमें रोग होनेसे—अपनेमें यह सब दोष देखने लगते हैं—तो बुद्धि ठीक नहीं है। ऐसेमें यदि यह कहें कि हम अपनी आत्माका विवेक करेंगे—'आत्मा साक्षी है—ब्रह्म है।' तो इस निश्चयमें स्थिरता नहीं हो सकती। क्योंकि बुद्धिकी स्थिरताके बिना कोई निश्चय भी स्थिर नहीं रह सकता। निश्चयमें जो अस्थिरता है, वह बुद्धिकी—प्रज्ञाकी निर्बलता है और यह निर्बलता अहंकार उत्पन्न करती है। जो 'अहं' नहीं है उसको 'अहं' मान बैठना—उसका नाम है 'अहंकार'। वह किया हुआ अहं है। जब दूसरेके साथ हम अपने 'अहं'को मिला देते हैं, तब उसका नाम 'अहंकार' हो जाता है। यह अहंकार परिच्छिन्नमें होता है। जिसकी परिच्छिन्नता कभी सम्भव नहीं है, जो परिच्छिन्नताका साक्षी है, प्रकाशक है, अधिष्ठान है, वह जब परिच्छिन्नमें 'अहं' कर लेता है जैसे, आकाशने अपनेको घटाकाश समझ लिया, चिदाकाशने अपनेको जीव समझ लिया—यह समझका फेर-भ्रांति है। यही 'अहंकार'की जन्मस्थिति है। इसकी पहचान क्या है? इसके भी कई रूप हैं, जैसे अतिमान, अपमान आदि।

'अतिमान' माने हम पूज्यका अनादर करते हैं। 'पूज्य-पूजा-

व्यक्तिक्रम'। जिसको प्रणाम करना चाहिए, उसको प्रणाम नहीं करना। जिसके पास बैठना चाहिए, उसके पास नहीं बैठना। जिसका आदर करना चाहिए, उसका अनादर करना। जिससे जिज्ञासा करनी चाहिए, उसको उपदेश करना या मौन हो जाना—यह सब अतिमानका लक्षण है। यह अतिमान कहीं-न-कहीं अनर्थके कार्यमें लगाता है—तो, जिज्ञासुके लिए यह आवश्यक है कि वह सावधान रहे।

अच्छा, हम आपसे यह पूछते हैं कि आपके लिए क्या करना सम्भव है और क्या असम्भव? यदि आपको सत्यका ज्ञान है तब तो सम्भव-असम्भव दोनों ही नहीं है और यदि सत्यका ज्ञान नहीं है तो असम्भव कहनेका आपको कोई अधिकार नहीं है। क्यों नहीं व्यवहार दशामें असंगता रह सकती? क्यों नहीं व्यवहार दशामें समता रह सकती? क्यों नहीं व्यवहार दशामें एकता रह सकती? जबकि वह वास्तविक है, वस्तुमूलक है। असंगता भी ऐन्द्रियक नहीं है, समता भी ऐन्द्रिय नहीं है और एकता भी ऐन्द्रियक नहीं है। एक वस्तु आती है वस्तुकी ओरसे और एक आती है इन्द्रियोंकी ओरसे तो, जो इन्द्रियोंकी ओरसे आती है, उसमें भ्रान्ति होती है और जो वस्तुकी ओरसे आती है उसमें भ्रान्ति नहीं होती, वस्तुका अज्ञान होता है और भ्रान्ति देखनेवालेमें होती है।

इसलिए, भाई मेरे यदि वेदान्तकी ओर चलना है, आत्मज्ञान प्राप्त करना है, तो न तो अपने जीवनमें अभिमान होना चाहिए और न ही किसीका अपमान होना चाहिए, अपमान करनेमें लग जाओगे तो पतन होता जायेगा, अभिमान करोगे तो पतनका मार्ग प्रशस्त होगा। गीतामें कहा है कि, '**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा**' मोह है शरीरमें और शरीरके सम्बन्धियोंमें और अपनी जातिका, पंथका, विद्या-बुद्धिका सौन्दर्यका, शक्तिका मान है। कहाँ ढुलक रहे हो? साढ़े-तीन हाथका शरीर—'मैं' 'मेरा' मानकर संसारमें ढुलक गये, कहीं अटक जाते हो, कहीं भटक जाते हो, कहीं फटक जाते हो, कहीं पटक जाते हो और कहीं लटक जाते हो! इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

अमान है आत्मा! जब हम किसी मानमें अपनेको फँसाते हैं, तब ज्ञानकी योग्यता मिट जाती है। अतः पहले दृष्टि साधन पर डालो और उसे स्वाभाविक बना दो। अमानित्वका तो अभ्यास अभी किया नहीं और बन गये ब्रह्म? बिलकुल बनावटी, काल्पनिक है। देखो, एकने कहा 'जरा एक लोटा पानी ले आओ।' दूसरा बोला, 'झाड़ू लगा लूँ, तब ले आता हूँ।' उसने कहा 'अरे, मैंने कहा और तुम नहीं गये!!' आँख लाल हुई, ओंठ फड़फड़ाये यह क्रोधका चांटा तुमको किसने लगाया? यह हड्डी-मांस-चाममें जो 'मैं' है—उसने तुम्हें चांटा लगाया। तुम कहते हो कि ज्ञान होने पर तादात्म्यसे ही व्यवहार होगा। पहले एक बार ज्ञान हो तो जाने दो! यह क्यों नहीं पूछते कि ज्ञान कैसे हो कि मैं ब्रह्म हूँ? यह पूछते हो कि ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर तादात्म्य कैसे होता है? प्रश्न बिलकुल उलटा है पहले कुछ धर्मानुष्ठान करो, उपासना करो, योगाभ्यास करो, कुछ बहिरंग साधन अपने जीवनमें आने दो—थोड़ा-अन्तरंग साधन करो और जब तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका बोध हो जाय, लेकिन तब भी कोई संशय रह जाय तो हमसे आकर पूछ लेना—बता देंगे।

वस्तुतः यदि ब्रह्मानुभूतिके पश्चात् भी संशय हो तो वह ब्रह्मानुभूति ही नहीं है। आत्मज्ञान होनेपर, किसी भी विषयमें संशय नहीं रह सकता; क्योंकि प्रतिज्ञा ही है—'**एकं विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।**' व्यवहार सब सम हो जाता है, असंगता अपने स्वरूपमें स्वाभाविक है और अद्वितीय तो स्वरूप है, अतः जिन लोगोंको ब्रह्मानुभूति नहीं हुई है—वही ऐसी सम्भावना करते हैं कि ब्रह्मानुभूति होनेपर भी व्यवहार दशामें तादात्म्य होगा। ब्रह्मानुभूति होनेपर व्यवहार और परमार्थका भेद ही नहीं रह जाता, तब तादात्म्य किससे होगा?

प्रश्न : जब नित्य-प्राप्त अपना आपा ब्रह्मस्वरूप है, तब फिर ब्रह्मज्ञानके लिए श्रद्धाकी कोई आवश्यकता नहीं है न?—महाराजश्री, कृपया बतावें।

उत्तर : यह बात अनुभव करके कह रहे हो क्या? यदि तुम्हें अपने ब्रह्म-स्वरूपका अनुभव नहीं हुआ है तो तुम्हें ऐसा कहनेका कोई अधिकार नहीं है!!

ब्रह्मज्ञानमें प्रारम्भमें श्रद्धा भी आवश्यक है, जो लोग आरम्भमें ही

अपने हृदयसे श्रद्धा निकाल देते हैं वे ठीक नहीं करते। ब्रह्मकी अनुभूति हो जानेपर श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता नहीं रहती, वह तो अपना आपा साक्षात् है, लेकिन जिज्ञासुके हृदयसे श्रद्धा निकाल देनेवाला साधन-चतुष्टयसे शमादि षट्सम्पत्तिका सत्यानाश कर देता है। वह तो तुम्हारी साधना ही चौपट कर देता है।

'अपौरुषेय वेदवाणी पर श्रद्धा न करो तो भी तुम ब्रह्म हो' इसका नाम तो अतिशय श्रद्धा हुआ। देखो, भगवान्का नाम ऐसी वस्तु है कि मानो न मानो, श्रद्धा करो न करो, तुम्हारा कल्याण अवश्य हो जायेगा। नाम पर श्रद्धा करनेकी आवश्यकता नहीं। और यदि तुम यह कहते हो कि 'वेदान्त विद्या में हमारी श्रद्धा काम नहीं करती, वेदान्त विद्या ही काम करती है' तो यह तो श्रद्धाका सबसे गाढ़ा एवं उत्कृष्ट रूप है।

यह सर्वथा सत्य है कि तत्त्वज्ञानके बाद जो निष्ठा है, उसके पूर्वरूपका नाम श्रद्धा है। बिना देखे जब हम उसे बोलते हैं तो 'श्रद्धा' बोलते हैं और उसे देखकर उसमें बैठते हैं तो उसे निष्ठा बोलते हैं। इसलिए वेदान्त घोषणा करता है—

श्रद्धत्स्व सौम्य!—वत्स! श्रद्धा कर!

जो लोग औरोंकी श्रद्धा छुड़ाते हैं, वे अपनेमें श्रद्धा कराते हैं।

प्रश्न : महाराजश्री! आपके श्रीमुखसे सुना कि 'आत्मदर्शनमें ईमानदारी हो'—ईमानदारीसे क्या अभिप्राय है—कृपया समझावें।

उत्तर : देखो, अगर तुम ब्रह्मको भी महत्त्वपूर्ण समझोगे और अपनेसे अन्य ईश्वरको भी महत्त्वपूर्ण समझोगे तो जो ईश्वरको जानता है—आत्म प्रत्यगभिन्न चैतन्य—उसका साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

देश बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है; परन्तु आत्म-दर्शन दूसरी चीज है और देशका महत्त्व दूसरी चीज है। समय बड़ा कीमती है, परन्तु आत्मदर्शनके लिए उसको नष्ट करना पड़ता है। सत्कर्म, सद्भावना, सद्विचार, योगकी समाधि, अन्यरूपमें ईश्वर बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है—यदि आपकी उसमें रुचि

हो तो आप उसके लिए अपना जीवन अर्पण कर दें। लेकिन; ब्रह्मात्मैक्य-बोध दूसरी वस्तु है। आप क्या सचमुच इस मार्गमें चलना चाहते हैं? यदि हाँ, तो घटका ज्ञान, पटका ज्ञान, मेज-कुर्सीका ज्ञान, सूर्य-चन्द्रमाका ज्ञान, व्यष्टि-समष्टिका ज्ञान, देवताका ज्ञान, ब्रह्माका ज्ञान अन्यरूपसे ईश्वरका ज्ञान—ये सब किसको हो रहे हैं—**किञ्चित् समाश्रित्य विभाति वस्तु**—उसे जाननेके लिए अपने भीतर लौट आइये, यही आत्मदर्शनमें ईमानदारी है।

प्रश्न : पूज्यश्री, कृपया बतलायें कि गुरुमुखसे श्रवण करनेके अनन्तर, जिसको यह विश्वास हो गया कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उसके लिए कोई साधना करनेको शेष रहेगी या नहीं?

उत्तर : अच्छा! यह बतानेके बाद भी यह प्रश्न तो रह गया न कि कोई साधना करें कि न करें! तो, जबतक यह प्रश्न रहता है कि कोई साधना करें कि न करें तबतक समझना कि गुरुके वचन पर उसका विश्वास नहीं हुआ। एक बात और है, जब गुरुने हमको ब्रह्म कह दिया तो अब हमारे ब्रह्म होनेमें क्या शंका है? बहुत बढ़िया!! लेकिन क्या अब आप चोरी करेंगे? बदमाशी करेंगे? अब क्या जाकर ब्याह करेंगे, धन बटोरेंगे? गुरुकी बात यही मानी? गुरुकी बात माननेका तो अर्थ यह होता है कि जैसे नित्य-शुद्ध-मुक्त ब्रह्मको संसारकी किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही वह है। पर, ढोंग-धतूरेकी तो बात दूसरी है—लोगोंको दिखावेंगे कि हम ज्ञानी हैं और भीतरसे भिन्न-भिन्न वस्तुओंको चाहते रहते हैं।

एक बार यदि यह निष्ठा हो गयी कि 'मैं ब्रह्म हूँ'—तो उसके बाद कोई प्रश्न नहीं रहता है। फिर तो वह उसी रूपमें रहेगा कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मुक्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, मैं अद्वितीय हूँ, मेरे सिवाय और कोई चीज नहीं है। 'तुम ब्रह्म हो'—यह नाम नहीं रखा है। गुरुने जैसे अपने बेटेका नाम कोई टिंगू, पींगू, फिंगू रख दे, वैसे ही गुरुने अपने चेलेका नाम ब्रह्म रख दिया। ऐसा नहीं उसने तो ब्रह्मका स्वरूप समझाया कि ब्रह्म ऐसा होता है और तुम ऐसे हो। तो, तुम्हारी निष्ठा ऐसी बनती है कि नहीं बनती है—यह तो देखो!

यह बात केवल ब्रह्मकी नहीं है, यह बात तो यहाँ भी है कि गुरुने कह दिया कि तुम भगवान्‌के हो और भगवान् तुम्हारे हैं और भगवान्‌का एक बार नाम ले लेनेपर ही कल्याण हो जाता है। और एक बार भगवान्‌का नाम लेने पर जब कल्याण हो जाता है तब बारम्बार नाम लिया जाय इससे बढ़कर और क्या होगा? इतनी बढ़िया वस्तुको एक क्षणके लिए भी क्यों छोड़ें? इसलिए निरन्तर नामका उच्चारण करनेके लिए एक बारके नामके उच्चारणकी महिमा बतायी जाती है, यह नहीं कि एक बारके नामके उच्चारणकी महिमा सुनी और फिर बोले कि अब क्या जरूरत है, अब तो हमारा कल्याण हो गया, अब हम नाम लेकर क्या करेंगे! तो, ऐसी बेवकूफीका काम नहीं करना चाहिए।

प्रश्न : आपको देखकर मेरा मन भी संन्यासी होनेको हो गया! आज्ञा और कृपा करें।

उत्तर : आखिर देखनेको तो सभी तरहके लोग मिलेंगे! और असलमें, हमको भी आप कहाँ देखते हैं? हम बन्द कमरेमें रहते हैं हम क्या करते हैं, हमारे मनमें क्या-क्या बुराई आती है, हम क्या-क्या गलती करते हैं—यह सब आपको मालूम नहीं है। आप हमारा बाहरी रूप देखते हैं और आपका संन्यासी होनेका मन होता है और आप हमारे भीतरी रूपको देखेंगे तो शायद संन्याससे आपको ग्लानि हो जाय! ऐसा भी है कि देख-दिखाकर जो संन्यासी होनेका मन होता है, वह टिकाऊ नहीं होता! क्या आपके मनमें सचमुच-आत्माके अतिरिक्त—परमात्माके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुसे लगाव नहीं है, झुकाव नहीं है? आप यह देखते हैं कि हम संन्यासी हो जायेंगे तो जैसे इनके धनी, बड़े-आदमी, विद्वान् भक्त हैं वैसे हमारे भी भक्त होंगे। हमारी भी पूजा-पत्री होने लगेगी—तो यदि ऐसा होनेके लिए आप संन्यासी होना चाहते हैं तो आप संन्यासको बिल्कुल पवित्र रहने दीजिए, संन्यासको अपवित्र करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है!

✦

हृदयाकाशके हीरे

(१)

व्यक्तिके विकासको चरमावस्था है निरपेक्षता और यह निरपेक्षता ही आत्मदर्शनमें अति सहायक्ष है।

(२)

सारा वेदान्त तो कर्तापनको काटनेके लिए है और तुम कहते हो—यह मेरे मौलिक विचार हैं, यह मेरी मौलिक सूझ है!

(३)

छतपर पहुँचकर नाचो तब ठीक है और छतपर तो पहुँचे नहीं और सीढ़ी पर ही नाचना शुरू कर दिया, तब क्या होगा? होगा यही कि छत पर तो पहुँच नहीं पाओगे और सीढ़ी पर से भी नीचे ही गिरोगे। इसी प्रकार जो ब्रह्मबोधके पूर्व ही साधनाका परित्याग कर देते हैं। उनकी तो अधोगति ही होती है।

(४)

असलमें सिद्ध है आत्मा-ब्रह्म। यदि आत्मा-ब्रह्मको जान लिया तो तुम असलमें सिद्ध हो। और सब सिद्धियाँ तो वास्तवमें असिद्धियाँ हैं।

(५)

ज्ञानकी धारा विनीतके प्रति ही प्रवाहित होती है।

(६)

पशु, शरीरके लिए वैर करते हैं, ज्ञानी शरीरके लिए वैर नहीं करते।

(७)

ज्ञान—सबमें एकको देखना ज्ञान है।

विज्ञान—एकको ही देखना विज्ञान है, सर्व बाधित है।

(८)

अपनेको दुःख-असंतोष भले ही हो, परन्तु दूसरोंको कष्ट, —असन्तोष न हो—ऐसी सेवा हिरण्यगर्भकी सेवा है।

(९)

अपनेको भी दुःख-असंतोष न हो और दूसरोंको भी दुःख-असन्तोष न हो—ऐसी सेवा ईश्वरकी सेवा है।

(१०)

जब ज्ञानके साथ वैराग्य नहीं होता तब वह ज्ञान संसारमें ही आसक्ति उत्पन्न करवाता है।

(११)

साधनका जीवनमें स्वाभाविक हो जाना ही साधनकी सिद्धि है।

(१२)

मनुष्यके जीवनमें यदि दो बातें हों तो उसको कोई विघ्न नहीं रोक सकता है—

(१) निःस्पृहः (२) स्वसुखानुभूः।

(१३)

जो संसारकी वस्तुओंको कारणसे अभिन्न अर्थात् कारण रूप देखता है सो ज्ञानी और जो कार्य-कारणका बाध करके सबको आत्म-स्वरूप ही अनुभव करता है—वह तो ब्रह्म ही है।

(१४)

आत्मचिन्तनके लिए सब ओरसे बेपरवाह, निश्चिन्त होना पड़ता है।

(१५)

विरक्त वह है जिसके मनमें दीनता-हीनता न हो।

(१६)

जीवन्मुक्ति—ऐसा ज्ञान जो प्रत्येक परिस्थितिमें आगे ही बढ़े।

(१७)

परा सिद्धि क्या हैं?—आगमापायी परिस्थितियाँ हमको प्रभावित न कर सकें।

(१८)

वृत्तिमें रहनेवाला ज्ञान और सुख, सदा बना रहे—यह भी बन्धन है।

(१९)

अपनी तटस्थता, असंगताको जान लो, बस इतना ही वेदान्तको अभीष्ट है।

(२०)

ज्ञानीकी रहनीकी नकल नहीं करनी चाहिए। ज्ञानी अज्ञानको दूर करनेके लिए जो पुरुषार्थ किया है, उसकी नकल करनी चाहिए।

(२१)

जितना-जितना वैराग्य होता जायेगा, उतना-ही-उतना मुक्त होते जाओगे।

(२२)

जैसे गायका स्वभाव घास चरना है, घोड़ेका स्वभाव दौड़ना है—इसी प्रकार मनका स्वभाव है विक्षिप्त होना, यदि मनमें थोड़ा विक्षेप आ गया तो तुम क्यों घबड़ाते हो?

(२३)

ईश्वर दर्शन सच्चा कब?

जब हमारी सम्पूर्ण वृत्तियाँ और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ एक मात्र ईश्वरका ही दर्शन करें।

(२४)

वैराग्यकी कमी यही है कि हम दूसरोंको भी विरक्त बनाना चाहते हैं। अगर दूसरोंसे राग न हो तो उन्हें विरक्त बनानेकी मनमें आवे ही नहीं।

(२५)

निष्काम भावसे साधन नहीं होता। निष्कामताकी प्राप्तिके लिए ही साधन किया जाता है।

(२६)

जिसको जीनेके लिए, जाननेके लिए और सुखके लिए किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं—वही महात्मा है।

(२७)

अपनेको संसारकी कसौटी पर न कसकर सत्यकी कसौटी पर कसो।

(२८)

निष्काम ही निष्पक्ष हो सकता हैं।

(२९)

सच्चा ऐश्वर्य है—निष्कामता।

सच्चा सौन्दर्य है—निर्विकारता।

(३०)

जो सत्य, संघर्ष-वैमनस्यको जन्म दे, वह सच्चा सत्य नहीं है।

(३१)

दूसरोंके दोष-दुर्गुणोंकी ओर न देखना ही अपने दोष-दुर्गुणोंको मिटाना है।

(३२)

कर्म-कारण कल्पनाका आधार 'सत्तया', द्रष्टा-दृश्यकी कल्पनाका आधार 'चित्तया', भोक्ता-भोग्यकी कल्पनाका आधार 'आनन्दतया' विवर्तमान हो रहा है, स्वयं तो ज्यों-का-त्यों सच्चिदानन्द एक रस अखण्ड है।

(३३)

स्वमें आरोपित गन्तृत्वका बाध हो जायेगा तो गन्ता या गमन करनेवाले अहंको, जो दृश्यसे तादात्म्यापन्न है, अपने स्वरूपकी अखण्डताका बोध हो जायेगा।

(३४)

जिसकी निष्ठा पक्की है, उसपर देश-काल-वस्तु यानि परिस्थितियोंके परिवर्तनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कदाचित् खूंटा हिल गया तो फिरसे ठोंकनेका काम सम्हालकर करना चाहिए।

(३५)

जिसे यह मालूम नहीं कि ईश्वरने इस दुनियाकी कारीगरी किस नियमसे बनायी है, वह अविज्ञानवान् है।

(३६)

जिस मशीनसे बुरे और भले काम होते हैं, उसीसे अपनेको असंग बनाना पड़ेगा, यही ज्ञानका सच्चा रूप है।

(३७)

संसारकी प्राप्ति होनेका अर्थ है, अपना रहनेका घर न होना।

(३८)

एक बैलको भी जब एक खूँटेसे दूसरे घरपर, नये खूंटेपर ले जाकर बाँध देते हैं तो वहाँसे वह रस्सी तुड़ाकर भाग आता है, ऐसे ही ये इन्द्रियाँ भी हैं। बाहरके किसी विषयके साथ ले जाकर इन्हें बाँधनेपर भी ये नहीं रुक सकती। ये तो लौटकर आयेंगी अपनी जगह पर!!

(३९)

आजका वैज्ञानिक ऐसे कपड़ेकी खोजमें है जिसमें मैल न लगे, जल्दी फटे नहीं, मल न पड़े, तुम तो स्वयं ही ऐसे हो तुम अपने आपमें ही स्वतन्त्र आत्मनिर्भर हो।

(४०)

संकल्प जिसके लिए होता है वहाँ नहीं पहुँचना है; वहाँ पहुँचना है जहाँ संकल्प उठता है।

(४१)

मूर्खता यानि अपनेको किसी स्थान, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिसे बाँध देना।

(४२)

सब लोग अपनी स्थिति, शक्ति, वय, पात्रताके अनुसार विचार, संकल्प, कर्म तथा भोग करते हैं; किन्तु सबका प्राप्तव्य एक ही है और सबमें एक ही तत्त्व है—यह बात बुद्धिमें आ जाय, यही बुद्धिकी समता है।

(४३)

संसारमें परिवर्तनकी इच्छा इस दृश्य प्रपंचमें सत्यत्वकी भ्रान्तिसे ही होती है।

(४४)

सचमुच यदि प्रपंच ईश्वरसे अभिन्न दीखने लगे तो प्रपंच अपनी प्रपंचता छोड़ देगा।

(४५)

साध्यमात्रका त्याग वैराग्यकी पराकाष्ठा है।

(४६)

जब सद्‌बुद्धि पुरुषको मालूम पड़ जाता है कि सब एक ही है तो उनको कुछ बोलनेकी जरूरत नहीं रहती—यह अच्छा है यह बुरा है; यह बड़ा है, यह छोटा है; सब एक ही तराजूके चट्टे-बट्टे हैं आदि-आदि। विद्वान् पुरुष तो तब शब्दसे ही उपराम हो जाते हैं। किसीको कुछ कहनेकी जरूरत नहीं। जो होता है सो होने दो, जो बोला जाता है सो बोला जाने दो। जो किया जाता है सो किया जाने दो।

(४७)

वस्तुका किसीको सम्भालना और छोड़ना—दोनोंमें बहुत अन्तर है। सांसारिक वस्तुको सम्भालना माने उसे आप बड़ा महत्त्वपूर्ण समझते हैं सो ठीक-ठीक व्यवस्था करते हैं और, छोड़ना माने पदार्थको ज्यों-का-त्यों छोड़ना—कहीं कोई महत्त्व बुद्धि नहीं—'ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया!'

(४८)

निन्दककी भी निन्दा न करना ही अपना स्वरूप है।

(४९)

सविशेष-निर्विशेषमें क्या फर्क है?

सविशेषमें वृत्तिका आकार एक ही होगा और निर्विशेषमें वृत्तिका आकार चाहे कुछ भी हो, उसमें अनुस्यूत जो निर्विशेष है, अधिष्ठान है, स्वयं-प्रकाश है, वह एक ही होगा। वेदान्तमें वृत्तिके आकारका आग्रह नहीं होगा।

(५०)

जो 'मैं' है सो परमात्मा है; जो परमात्मा है सो 'मैं' है और जो दुनिया दिखायी पड़ रही है वह आत्मतत्त्वसे न्यारी नहीं है—यही ज्ञान जब ईश्वर दे तब समझना कि वह ईश्वरका ईश्वरके द्वारा दिया हुआ ज्ञान है, वरना समझना कि तुम्हारी अपनी वासनामें ही तुम्हें ईश्वरीय ज्ञानका भ्रम हुआ है, ईश्वर जब अलगसे अपने होनेकी आवश्यकताको मिटा दे तब ईश्वर तुमको सच्चा बनाकर गया।

(५१)

सबमें अपने परमात्माको न देखना भक्तिमें जड़ता है, धर्मको किसी सम्प्रदायमें बाँध देना धर्मकी जड़ता है; भोगमें अपने आनन्दको बाँध देना यह आनन्दकी जड़ता है और स्थितिमें अपनेको बाँध देना यह ज्ञानकी जड़ता है।

(५२)

वेदान्तमें प्रत्याहारका स्वरूप है : जितने विषय फुरते हैं, वे मनमें ही स्फुरित होते हैं। मन में जो विषय स्फुरित हो उसके नाम-रूपका तिरस्कार कर दो और उसमें जो सत्, चित्, आनन्द है, उसीमें मन लगाओ। नाम-रूपका तिरस्कार करनेपर विषयमें जो बचेगा, वह आत्मा ही है, अतः सभी विषयोंमें आत्माका ही चिन्तन होगा।

(५३)

अक्ल भले ही चाहे कितनी लगाओ, पर अनुभव भी चाहिए।

(५४)

व्यक्तिको महत्त्व देकर जो आत्माको समझना चाहता है वह तो बिल्कुल च्युत हो गया।

(५५)

मनुष्यकी यही सौम्यता है कि अपनी बात पर जिद न करे और दूसरेकी बात समझनेकी कोशिश करे, तब तो ज्ञानकी वृद्धि होती है।

(५६)

ईश्वरके राज्यमें तुम तबतक अनुशासित हो, जबतक तुम माया, प्रकृतिको पकड़े हुए हो। ईश्वर अपने स्वरूपभूत चैतन्यका नहीं, उपाधिका नियन्ता है।

(५७)

एक संसारीकी दृष्टिमें अधिक धनका होना या मिलना ईश्वर-कृपा या पुण्य-कर्मका फल है और एक विरक्त महात्माकी दृष्टिमें वह पुण्यकर्मका फल नहीं, मन्द भाग्य है, क्योंकि दुनियामें फँसाने और भगवान्‌को भुलानेके लिए ही वह धन उसके पास आया है, इसीसे वह उसे हरगिज ईश्वर कृपा नहीं

मानता, उसकी दृष्टिमें तो पुण्यकर्मका फल त्याग-वैराग्य है, अन्तःकरणकी शुद्धि है, ज्ञान भक्ति है।

(५८)

तुम्हारा ज्ञान ऐसा होना चाहिए जहाँ, सदाचार और दुराचारमें साम्य हो, पर तुम्हारी वृत्ति सदाचाराकार रहे। उपास्य और अपास्यमें साम्य होने पर भी तुम्हारी वृत्ति उपास्याकार रहे। समाधि और विक्षेपमें साम्य रहे, पर स्वभावसे वृत्ति समाहित हो। अपरिच्छिन्न-परिच्छिन्न एक दीखने पर भी तुम्हारी वृत्ति अपरिच्छिन्न-ग्राहिणी हो।

(५९)

निर्विकल्पता—संसारके चिन्तनसे साधकका कोई प्रयोजन होता नहीं और अचिन्त्य, परमात्मतत्त्व चिन्तनमें आता नहीं—यही निर्विकल्पता है।

(६०)

यह तत्त्वज्ञान ऑपरेशन है जो दुनियाकी ओरसे जड़-बेहोश कर देता है अर्थात् दुनियाकी ओरका ख्याल छोड़ देनेवाला ही परमार्थकी दिशामें आगे बढ़ सकता है। एक भी वृत्ति-गन्दगी भीतर न रह जाय, उसे काट कर फेंक देना।

(६१)

एक बार किसीने पूज्य महाराजश्रीसे पूछा, 'यह शरीर तो व्यक्ति मालूम पड़ता है, क्योंकि यह प्रकट होता, सिमटता, बनता और बिगड़ता है, किन्तु इसे मोह क्यों?'

महाराजश्री बोले, 'अरे भाई, मोह भी तो व्यक्ति ही है। वह भी प्रकट होता, सिमटता है। उसे भी महत्त्व मत दो। सूक्ष्म व्यक्तिरूप मोहका भी कोई महत्त्व नहीं। वह तो स्वप्नकी तरह प्रकट-लुप्त होता रहता है।'

(६२)

वासनावान् पुरुषोंका संग न मनको शान्त होने देता है और न ईश्वरमें लगने देता है। न यह वृत्तिको निर्विकार होने दे, न वृत्तिको साकार होने देता है। यह चाहिए, की धुन चढ़ी रहती है। साधु सावधान!

(६३)

यदि तुम निःसंकल्प हो जाओ तो ईश्वर भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

(६४)

जिसकी गन्देमें रुचि है, जो दुराचार, दुर्भाव, दुर्गुणको छोड़ना नहीं चाहता और 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' ज्ञानसे उसका समर्थन करना चाहता है, उसको परमात्माका ज्ञान कैसे हो? ज्ञान बेचारा सोचता है कि हम उसके पास जायेंगे तो वह हमें भी गन्दा कर देगा। भला! स्वच्छ पुरुष गन्देके साथ कैसे मिले?

(६५)

यदि संसारकी भीड़में तुम्हारा प्यारा परब्रह्म परमात्मा छिपा हुआ है, तुम उसके प्रेमी जिज्ञासु हो तो क्यों उसीको नहीं देखते? या तो वह है ही नहीं या तुम्हारी आँखमें प्रेम नहीं! तभी वह उसे ढूँढ नहीं निकालती।

(६६)

फुर गया, फुर गया! उड़ गया, उड़ गया! खो गया, खो गया! समाधि लग गयी, लग गयी! मित्र शत्रु बनकर आ गया, आ गया! कोई हर्ज नहीं। जिसके लिए संयोग-वियोग, जन्म-मरण, द्वैत कोई समस्या ही नहीं, वह सबसे बड़ा या वर है। महात्मा है। उसकी दृष्टिमें तो कोई चीज रहे तो रहे, जाय तो जाय, यह तो सपनेका खेल है। जादूगरका जादू है। माया है। एक प्रकारकी प्रतीति है; उसका कोई महत्त्व नहीं।

(६७)

ज्ञान होनेके बाद भी यदि देह ही पुजवानेकी इच्छा रहेगी तो ज्ञान आपसे निश्चय ही कतरायेगा।

(६८)

सांसारिक घटनाओंमें कुछ नहीं होता। मनुष्यके अन्तःकरणमें जो होता है, वही हर निमित्त पर प्रकट हो जाता है, भीतर दुःख होगा तो सब जगह दुःख भभक उठेगा और सुख होगा तो सुख भभकेगा।

(६९)

न ईश्वरमें जगत् है, न जगत्में ईश्वर। वह तो एक अखण्ड सत्य है। उसमें भला 'मैं' कहाँसे आयेगा? 'मैं' तो तब हो जब भेद होवे।

(७०)

हिरण्यगर्भमें एकत्वकी स्थिति होती है और ब्रह्मके एकत्वका ज्ञान होता है।

(७१)

परमेश्वरको परमेश्वर होकर मिलो-तब मजा आवेगा। भिखारी होकर मत मिलो।

(७२)

किसीके ज्ञान, किसीकी प्रियता, किसीके अस्तित्वपर आँच लगाती हो, ऐसी वाणी ईश्वरकी वाणी नहीं हो सकती।

(७३)

तुम्हारा कर्म निष्काम तो हो, परन्तु निष्प्रयोजन न हो!!

(७४)

वस्तु-निष्ठ गुण-दोष माननेवाला संकल्पसे मुक्त नहीं होगा। जब संकल्प-निष्ठ गुण-दोष मानेगा, तब संकल्पसे मुक्त होगा।

(७५)

जो तुरीय है, वह अपना ऐश्वर्य अपने पास नहीं रख सकता। इसीसे दूसरोंको बाँट देता है।

(७६)

वैराग्यमें जो व्यवहारका तिरस्कार होता है-वह व्यवहारका तिरस्कार नहीं होता। उसमें तो व्यवहारके मूलमें जो परमात्मा है, उससे एकात्म्य होता है।

(७७)

'स्व' त्यागा नहीं जा सकता और अन्य सदा त्यक्त है। तब त्यागका क्या अर्थ हुआ? जो अन्यको 'स्व' मान रखा है, इस मान्यताको त्यागना ही त्याग है!

✦

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त

पुस्तक	मूल्य
मुण्डक सुधा	110.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	75.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	60.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	35.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	80.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अध्याय-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अ.-13)	120.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अध्याय-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योगः कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं ब्रज	.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेवः सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	600.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	45.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	100.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00
उद्धवगीत	25.00

कपिलोपदेश	60.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	180.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	45.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	60.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
भागवत विचार दोहन	30.00
भिक्षुगीत	35.00
मैं ही मैं (चतु:श्लोकी भागवत)	30.00
सुदामा चरित	10.00

रामायण

श्रीरामचरितमानस (तीन भागोंमें)	1000.00
अध्यात्म रामायण	250.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	30.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	300.00

भक्ति एवं साधना

विष्णु पुराण	.00
भक्ति एवं लीला	10.00
नाम महिमा	25.00
भगवन्नाम	10.00
शरण	10.00
प्रार्थना	10.00
नारद भक्ति दर्शन	100.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	20.00
अवतार रहस्य	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	30.00
शिव संकल्प सूक्त	50.00

कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे	
कृष्ण प्राप्ति	10.00
मोहनकी मोहनी	20.00
ध्यानके समय	20.00
हनुमत्स्तोत्र	30.00
सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	40.00
साधन विचार	
मंत्र विज्ञान	30.00
योगदर्शन	100.00
भगवान्‌के पाँच अवतार	50.00
विष्णु सहस्रनाम	65.00
भक्त-चरित	15.00
भक्ति : विशेषताएँ	10.00
आदित्य हृदय	15.00
श्रीअखण्डानन्द स्तवः	6.00
ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा	30.00
महाराजश्री-एक परिचय	25.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	25.00
प्रेरक-प्रसंग	20.00
श्रीपूर्णानन्द तीर्थस्तवः (चित्रावली)	100.00
श्रीगुरुदेव प्रातः स्मरणम्	5.00
भिक्षु स्वामी शंकरानन्द	20.00
पावन प्रसंग	150.00

विविध

आनन्दवाणी	80.00
आनन्द उल्लास	60.00
आनन्द बिन्दु	70.00
आनन्दवचनामृत	10.00
आनन्द वार्ता	10.00
आनन्द पत्रावली	60.00
आनन्द रस रत्नाकर	200.00
आनन्द प्रश्नोत्तरी	30.00
आनन्द मंजूषा	120.00
आनन्द जयन्ती	10.00
आनन्द रत्न	60.00
आनन्द-ही-आनन्द	25.00
आनन्द निर्झर	35.00
व्यवहारशुद्धि	50.00
हृदयाकाशके हीरे	50.00
आप सबसे श्रेष्ठ हैं	30.00
गृहस्थाश्रम धन्य है	30.00
जीवन-एक यात्रा	55.00
अमृत वाणी	25.00
व्यवहार और परमार्थ	
ईश्वर दर्शन	20.00
आपका व्यवहार	20.00
अमृत महोत्सव	20.00
आपकी पसन्द	25.00
भारतीय संस्कृति	20.00
सत्यकी खोजमें	.00
जिज्ञासा और समाधान	30.00
स्पन्द तत्त्व	15.00
प्रकाश स्तम्भ	60.00
(दैनिक कैलेण्डर : म.श्रीके चित्र-उपदेश)	
गुरु पूर्णिमा	10.00
सुखी रहो और सुखी रखो	10.00
सद्गुरु प्रसाद	40.00
आपके लिए	20.00
जीवनमें साधना	25.00
संन्यास महोत्सव	5.00
चारु चिन्तन	60.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055, मो. : 09619858361

● शाखा कार्यालय ●

श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281121

फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460



अखण्डानन्द सरस्वती

आनन्दानुभव

श्रीगुरुपूर्णिमा प्रतिवर्ष भक्तोंके लिए एक नूतन सन्देश लेकर आती है।

अध्यात्म जगत्के सूर्य सन्तशिरोमणि परमपूज्य महाराजश्रीके वेदान्त प्रधान विचारोंका संकलन-जिसमें कतिपय लेख, कतिपय प्रश्नोत्तर एवं छोटे-छोटे वाक्योंका चयन है इस 'आनन्दानुभव' नामक नन्हीं-सी पुस्तिकामें किया गया है। हमें विश्वास है कि अध्यात्म-मार्गके पथिक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

आनन्द कानन प्रेस
हनुमांन, वाराणसी • फोन : 2392337

३५-